

समरथ

अक्टूबर-दिसम्बर 2018 ♦ नई दिल्ली



11 सितम्बर 1895—15 नवम्बर 1982

नाहि तो जनम नसाई

लगभग पांच साल पहले केंद्र में एक नई सरकार परिवर्तन और सबका साथ सबका विकास के नारे के साथ सत्ता में आई थी जिसकी विशाल सफलता में युवा पीढ़ी की आकांक्षाओं का बहुत बड़ा हाथ था। शुरुआती महीनों में जिस तरह कामकाज शुरू हुआ उससे शासन में मूल परिवर्तन, भ्रष्टाचार के प्रति जीरो टॉलरेंस, आर्थिक विकास और रोजगार के नए अवसरों के बारे में आशाएं जगी थीं परंतु कुछ समय बाद ये अंदेशे सही साबित होने लगे कि सत्ताधारी पार्टी जिस स्रोत से अपनी शक्ति प्राप्त करती है उसके एजेंडे को लागू करने की पूरी कोशिश की जाएगी।

इस एजेंडे के तहत सत्ता के केंद्रीयकरण, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पाबंदी, जनतांत्रिक संस्थाओं, विश्वविद्यालयों और उच्च शैक्षिक संस्थानों पर हमलों का सिलसिला शुरू हुआ और एक विशेष प्रकार के आक्रामक राष्ट्रवाद को देशभक्ति का नाम दिया जाने लगा। कभी संविधान को बदलने और संविधान में दर्ज शब्द सेकुलरिज्म पर आपत्ति जताई जाने लगी। मध्यकालीन युग से संबंधित शासकों को विदेशी करार देकर उनसे जुड़ी हर चीज को लोगों के दिमागों से खुरचा जाने लगा। सड़कों, नगरों और जिलों के नाम बदले जाने लगे और वो सांस्कृतिक यादगारें जो साझी विरासत का अद्वितीय नमूना हैं, गुलामी का प्रतीक बन गईं।

इतिहास के पुनर्लेखन के नाम पर वैज्ञानिक सोच और ऐतिहासिक समझ को दरकिनार कर एक स्वर्ण युग की बात की जाने लगी और रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित बताया जाने लगा और आधुनिक युग की तमाम वैज्ञानिक खोजों और आविष्कारों का स्रोत यह महाकाव्य ठहरे। इस अवैज्ञानिक और बेबुनियाद सोच को पाठ्यक्रमों का हिस्सा बनाकर मासूम दिमागों को भी दूषित करने की कोशिश की गई।

इन्हीं वर्षों में एक और दृश्य देखने में आया। यह गरु रक्षक थे। जिनके झुंड के झुंड सड़कों पर दनदनाते फिरने लगे। शांति और व्यवस्था की धज्जियां उड़ने लगीं। गुजरात, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में इन गरु रक्षकों ने जिस निर्भयता के साथ हिंसा का नंगा नाच दिखाया उससे साफ नजर आता था कि उन्हें सब कुछ करने की पूरी छूट मिली हुई है। हाल ही में मृत गायों के कथित अवशेष मिलने के बाद हिंसक भीड़ के हाथों बुलंदशहर में एक पुलिस अधिकारी की निर्मम हत्या इस प्रकार की ताजातरीन घटना है, जो इसलिए और भी ज्यादा शर्मनाक है कि राज्य सरकार ने इस सिलसिले में जो वक्तव्य दिए वो राज्य और उसकी जिम्मेदारियों का पूर्णतः उल्लंघन हैं।

हम पहले भी लिख चुके हैं कि हमारा संविधान एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें वो सारे आदर्श निहित हैं जो हमारे स्वतंत्रता संग्राम की बुनियाद थे और जिनकी प्राप्ति हमारे नेताओं का प्रथम उद्देश्य था जिसे पूरा किए बिना हमारी स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं। सरकार कोई भी हो उसका असल काम शांति और व्यवस्था को सुरक्षित करना, सामाजिक और आर्थिक न्याय के द्वारा समरसता को बढ़ावा देना, विघटनकारी शक्तियों को लगाम देना और संविधान को उसकी असल आत्मा के साथ लागू करना है। मगर दुर्भाग्य से हम निजी स्वार्थों के कारण यह मूल सबक भुला बैठे हैं।

सियाह रात नहीं लेती नाम ढलने का,
यही तो वक्त है सूरज तेरे निकलने का।
— शहरयार

2 • समरथ

अक्टूबर-दिसम्बर 2018

यह समय मन मारकर बैठ जाने का नहीं, अपने प्रतिरोध को व्यक्त और व्यापक करने का है

■ अशोक वाजपेयी



हर दीवाली पर लगता है कि हमारे आस-पास और अपनी आत्मा में बसा अंधेरा कुछ कम हुआ। पर जल्दी ही यह भ्रम साबित होता है और लगता है कि अंधेरा जस का तस है और कई बार और गहरा गया है। इस बार खासकर ऐसा लग रहा है। हमें फिर एक खूंखार भंवर में फेंके जाने की पूरी तैयारी चल रही है—गगन लोहित हो चला है। कुछ हिंदुओं की आस्था के केंद्र में बसे राम मंदिर को लेकर फिर एक अभियान की तैयारी है, जिसका संबंध आस्था से कम, लोकसभा के अगले वर्ष होने वाले चुनावों में किसी तरह जीतने से अधिक है।

आर्थिक उपायों में विफल होने के बाद बढ़ती गरीबी और बेरोजगारी से निपटने के लिए धर्म का बलिक धर्माधता का फिर सहारा लेना एकमात्र विकल्प नज़र आ रहा है। हमें महंगाई पर काबू, युवाओं के लिए रोजगार, भ्रष्टाचारमुक्त सुशासन के बजाय मंदिर चाहिये? फिर एक ध्रुवीकरण, फिर एक उन्माद, फिर व्यापक हिंसा की संभावना। इन सबसे भले सामाजिक समरसता खंडित दूषित हो जाये, हज़ारों लोग बेघरबार हो जायें, पारस्परिकता समाप्त हो जाये, चुनाव जीतना ज़रूरी है और इन सबकी बलि दी जा सकती है।

सूची लंबी है उन संस्थाओं की जिन्हें एक-एक कर नष्ट या अवमूल्यित किया गया है। पहले योजना आयोग समाप्त कर नीति आयोग बनाया गया, जिसकी अभी तक की उपलब्धि और भूमिका का कोई प्रमाण नहीं है। वह सरकार को नीतियां सुझाने के बजाय सरकार की अतर्कित नीतियों के सार्वजनिक बचाव में अधिक मुखर-सक्रिय नज़र आता है। संस्कृति की राष्ट्रीय संस्थाएं, जिनमें अकादमियां, राष्ट्रीय कला केंद्र, न्यास आदि शामिल हैं, गिन-गिनकर बौनी कर दी गयी हैं। बुद्धि और ज्ञान की संस्थाओं को नष्ट करने की लगातार चौतरफा कोशिश है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत बुरी तरह पिछड़ रहा है।

अज्ञान को हर रोज शिखर से प्रतिष्ठा मिल रही है। सूरदास की पंक्ति याद आती है—‘मूरख मूरख राजे कीन्हे, पण्डित फिरें भिखारी’। समाजविज्ञान, इतिहास आदि की राष्ट्रीय परिषदों में ऐसे लोग शिखर पर हैं जो अपने क्षेत्र में अज्ञातकुलशील हैं।

इधर के दौर में जिन संस्थाओं को नष्ट या अवमूल्यित या बदनाम या अप्रासंगिक किया जा रहा है उनमें रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, सर्वोच्च न्यायालय और केंद्रीय अनुसंधान ब्यूरो शामिल हैं। विमुद्राकरण से लेकर हालिया प्रसंग तक इस बैंक की स्वायत्तता को धता बताने की कोशिश की जा रही है ताकि वह सरकार का अनुगामी बनकर रह जाये। सर्वोच्च-न्यायालय के विरुद्ध एक अभियान छेड़ दिया गया है जिसमें बार-बार यह आरोप लगाया जा रहा है कि वह हिंदू भावनाओं की अवहेलना कर रहा है और उसके कई आदेशों का पालन नहीं होगा, नहीं किया जाना चाहिये। सीबीआई में अपने चुने अफसर बैठाकर उनके बीच के विवाद को हल न कर सरकार ने इस ब्यूरो की विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी है। सत्यानास का यह एक धुंधलाता रिकार्ड है—इसे नज़रन्दाज़ करना अनागरिक और अलोकतांत्रिक दोनों हैं।

‘कहां जाई का करी’—रामचन्द्र गुहा ने हाल ही में गांधी जी की भारत में सक्रियता की जो विशद जीवनी लिखी है, उसे उनकी सबसे अच्छी, प्रामाणिक और सुशोधित जीवनी निस्संकोच कहा जा सकता है। हमारे मौजूदा दौर की यह विडंबना है कि इस विचारशील सार्वजनिक बुद्धिजीवी को एक छात्र संगठन के अतर्कित विरोध के कारण अहमदाबाद विश्वविद्यालय में गांधी अध्ययन केन्द्र में कुछ महीने पढ़ाने का निमंत्रण स्थगित कर दिया गया है। एक लेखक-टिप्पणीकार ने उचित ही कहा है कि हर क्रिस्म के वैचारिक विरोध और प्रतिरोध को दबाने-कुचलने-बदनाम करने के लिए सत्तारूढ़

शक्तियां, संघ-परिवार भय, कुविचार और भौतिक प्रहार का धड़ले से इस्तेमाल कर रहे हैं। यह उस शहर में हुआ है जहां एक विद्यापीठ, आश्रम गांधी ने ही स्थापित किये थे।

यह समय खतरे की घंटी सुनने भर का नहीं जो अब काफ़ी देर से बज रही है। यह समय ऐसी घटनाओं को तथाकथित व्यापक परिप्रेक्ष्य में नज़रांदाज करने का क्रतई नहीं है। यह समय मन मारकर बैठने का भी नहीं। यह समय अपने प्रतिरोध को व्यक्त और व्यापक करने का है। यह समय स्वतंत्रता-समता-न्याय के संवैधानिक मूल्यों को बचाने, असहमति और प्रतिरोध की संस्कृति को लोकहित और लोकतंत्र के हित में सशक्त करने का है। यह समय एक नये अहिंसक सत्याग्रह का है जो लगातार हमारे ऊपर रोज़ाना लादे जा रहे झूठों का पर्दाफ़ाश करे, सच्चाई सामने लाये। यह समय बुलंद निडर आवाज़ में नहीं कहने का है। चुप की भी दहाड़ होती है पर यह समय चुप रहने का नहीं है। यह समय साहस का है, कायरता और कल्पित सुरक्षा का नहीं।

यह समय प्रबन्धन का नहीं, मूल्यों की राजनीति पर इसरार का है। यह समय बुद्धि और ज्ञान के सहमकर दुबकने का नहीं, उद्धत रूप से अपनी बहुलता और स्थायी ऊर्जा के इज़हार करने का है। यह धर्मों के प्रवक्ता बने ढोंगियों को, फिर वे पंडित हों या मौलवी, अस्वीकार करने और धर्मों को स्वयं अपने बुनियादी प्रेम-सद्भाव के अध्यात्म पर लौटने के आग्रह करने का है। यह समय है कि हिंदू समझें कि उन्हें जिस कट्टरता-संकीर्णता-पर घृणा में लगातार ढकेला जा रहा है वह हिंदू परंपरा से क्रतई बेमेल है।

यह समय मुसलमानों को अपनी कट्टरता से बाहर आकर अपनी पूरी नागरिकता पर अधिकार करने का न्यौता देने का है। यह समय लेखकों-कलाकारों को अपने भेदभाव भुलाकर एक व्यापक लोकतांत्रिक संघर्ष में शामिल होने के लिए आमंत्रण देने का है। यह समय गोदी मीडिया को यह जताने का है कि असहमति और प्रतिरोध की आवाज़ों के वैकल्पिक मंच हैं और सुदृढ़ हो रहे हैं। यह समय राजनीति को बताने का है कि उसकी सर्वग्रासिता समाज-विरोधी है और अस्वीकार्य है। यह समय लुच्चों-लफंगों-हत्यारों आदि को आगाह करने का है कि उनके साथ राज्य सख्ती से पेश न आये तो नागरिक निर्भय होकर पेश आयेंगे।

यह समय प्रश्न पूछने, जिज्ञासा करने, दूसरों का आदर करने, उन्हें ध्यान से सुनने, उनकी मदद करने और भारत में हर कहीं गांधी के पास जाने, अपने अंतःकरण और गांधी में एकत्र भारतीय अंतःकरण की आवाज़ सुनने का है। हमें पता होना चाहिये कि हमें कहां जाना है, क्या करना है।

भारत का पाज़-स्मरण—मैक्सिकन कवि आकावियो पाज़ की मृत्यु को बीस बरस होने आये। इस अवसर पर रज़ा फ़ाउंडेशन और अन्य मिलकर उन्हें भारत के संदर्भ में याद करने का एक उपक्रम इसी सप्ताह ईंडिया इंटरनेशनल सेंटर नयी दिल्ली में कर रहे हैं जिसमें कृष्णा

खन्ना, गुलाम मोहम्मद शेख, के सच्चिदानन्दन आदि हिस्सा ले रहे हैं। पाज़ का एक लंबा संघर्ष क्रांति और धर्म के बीच और बरक्स कविता को दूसरी आवाज़ के रूप में देखना और प्रतिष्ठित करना था। उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में बाज़ारू आर्थिकी का प्रकोप और वर्चस्व शुरू हो गये थे पर वे आश्वस्त थे कि यह आर्थिकी अपने अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होकर बदल जायेगी और कविता के लिए जगह होगी। यह वह जगह होगी जहां यह दूसरी आवाज़ को ध्यान से सुनने-गुनने वाले नागरिक-रसिक होंगे।

पाज़ के न रहने के दो दशकों बाद और बाज़ारू आर्थिक के भयावह विस्तार और विद्रूप के बावजूद, यह नहीं कहा जा सकता कि यह दूसरी जगह अब बन गयी या कि दिखायी दे रही है। कविता को आधुनिकता ने संसार भर में बहुत उजाला और सम्भावनाएं दी हैं पर उनके साथ अंधेरा भी। यह अंधेरा ही संभवतः एक मात्र दूसरी जगह है जो कविता के लिए बची है।

पाज़ ने यह लक्ष्य किया था कि आधुनिक कविता का पश्चिम में अधिकांश मध्यवर्ग ने रचा था और इसने कविता के भूगोल में निर्णायक परिवर्तन किया था। उसके पाठक और श्रोता भी मध्यवर्ग से ही आये-आज तक आते हैं। सत्ताधारी और धनाढ्य कविता से दूर ही रहते हैं, जिसका एक कारण शायद यह है कि कविता में घर गयी आधुनिक प्रश्नवाचकता उन्हें रास नहीं आती और असहज बनाती है। जब-तब राजनीति ने कविता का सहारा लिया है पर उस पर कभी विश्वास नहीं किया। हमारे समय में तो राजनीति और धर्म दोनों ही कविता पर अविश्वास करते हैं। यह अविश्वास एक तरह का नैतिक बल और आभा, प्रासंगिकता कविता को देता है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक “दि अदर वायेस’ का समापन करते हुए पाज़ ने विकटर ह्यूगो के हवाले से बताया है कि हर चीज़ हर चीज़ को बिना किसी उद्देश्य, बिना किसी अंत और बिना किसी तरह रुके खोजती है। कविता का यही काम है। पाज़ मानते थे कि जब तक लोग हैं तब तक कविता भी होगी। यह रिश्ता टूट सकता है। वह मानवीय कल्पना की उपज है और समाप्त हो सकती है अगर कल्पना का अवसान हो जाये या वह भ्रष्ट कर दी जाये। अगर मनुष्य कविता भूल गया तो वह अपने को भी भूल जायेगा। वह आरम्भिक अव्यवस्था की ओर लौट जायेगा।

पाज़ बीसवीं शताब्दी के ऐसे मूर्धन्य थे, जिनका कविता में भरोसा कभी कम नहीं हुआ और जिन्होंने कविता से उम्मीद लगाना कभी छोड़ा नहीं। वे उसकी विडम्बनाओं की शिनाख़्त और निर्मम विश्लेषण करने से कभी चूके नहीं पर कविता की ज़रूरत, दूसरी आवाज़ के अस्तित्व में उनका गहरा भरोसा था। जब भारतीय कला और साहित्य समाज को पाज़ को याद करता है तो उसमें यह कृतज्ञता रहती है कि कठिन समय में भी पाज़ हमें कविता पर ज़िद कर भरोसा करने की सीख देते रहे, देते रहते हैं।

4 • समरथ

गणेशशंकर विद्यार्थी का हिंदू राष्ट्र को खारिज करना किसी दूसरे धर्म का तुष्टिकरण नहीं था

गणेशशंकर विद्यार्थी का मानना था कि अच्छे आचरण वाले नास्तिकों का दर्जा धर्म के नाम पर दूसरे की आज्ञादी रौंदने और उत्पात मचाने वालों से ऊंचा है।

■ हेमंत कुमार पाण्डेय

मैं हिन्दू-मुसलमान झगड़े की मूल वजह चुनाव को समझता हूँ। चुने जाने के बाद आदमी देश और जनता के काम का नहीं रहता।'

देश की मौजूदा राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए लग सकता है कि यह बात किसी ने इन्हीं दिनों कही होगी। लेकिन सच्चाई यह है कि विख्यात पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी ने ये शब्द 1925 में ही लिख दिए थे। कांग्रेस के टिकट पर एक चुनाव में जीतने के बाद मशहूर लेखक और संपादक बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे पत्र में उन्होंने राजनीतिक माहौल पर गुस्सा जाहिर करते हुए यह बात लिखी थी।

गणेशशंकर विद्यार्थी आजीवन धार्मिक कट्टरता और उन्माद के खिलाफ आवाज उठाते रहे। यही धार्मिक उन्माद उनकी जिंदगी लील गया। प्रसिद्ध साहित्यकार अमृतलाल नागर ने गणेशशंकर विद्यार्थी की मृत्यु के बाद कहा था, 'वे अपने ही घर में शहीद हो गए।' विद्यार्थी अपने ही घर यानी उत्तर प्रदेश के कानपुर में अपने ही लोगों के बीच दंगे के दौरान धार्मिक उन्माद का शिकार बने थे।

23 मार्च, 1931 को भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी दिए जाने के बाद पूरे देश में सनसनी फैल गई थी। कानपुर भी इससे बचा हुआ नहीं था। इस घटना के ठीक तीसरे ही दिन

यानी 25 मार्च को शहर में हिंदू-मुस्लिम समुदाय के बीच मनमुटाव ने एक बड़े दंगे का रूप ले लिया। दोनों तरफ के लोग एक-दूसरे की जान लेने पर उतारू थे। ऐसे माहौल में भी गणेशशंकर विद्यार्थी लोगों के उन्माद को शांत करने के लिए घर से निकल पड़े। इस दौरान उन्होंने कई लोगों की जान बचाई। लेकिन आखिर में उन्हें इन्हीं उन्मादी लोगों के हाथों अपनी जान गंवानी पड़ी।

26 अक्टूबर, 1890 इलाहाबाद में एक शिक्षक जयनारायण श्रीवास्तव के घर जन्मे गणेशशंकर विद्यार्थी ताउम्र अपनी लेखनी के जरिए लोगों को धार्मिक उन्माद के प्रति सावधान करते रहे। 1913 में उन्होंने अपनी साप्ताहिक पत्रिका प्रताप शुरू की थी। अपने शुरुआती दिनों में ही इसकी पहचान किसानों की हमदर्द पत्रिका के रूप में हो गई थी। किसान विद्यार्थी जी को सम्मान से 'प्रताप बाबा' कहकर पुकारने लगे थे।

गणेशशंकर विद्यार्थी की दृष्टि बहुत दूरगामी थी। 27 अक्टूबर, 1924 को प्रताप में उन्होंने 'धर्म की आड़' नाम से एक लेख लिखा। यह आज भी प्रासंगिक है। विद्यार्थी जी अपने लेख में लिखते हैं, 'देश में धर्म की धूम है और इसके नाम पर उत्पात किए जा रहे हैं। लोग धर्म का मर्म जाने बिना ही इसके नाम पर जान लेने या देने के लिए तैयार हो

जाते हैं।' हालांकि, इसमें वे आम आदमी को ज्यादा दोषी नहीं मानते। अपने इस लेख में वे आगे कहते हैं, 'ऐसे लोग कुछ भी समझते-बुझते नहीं हैं। दूसरे लोग इन्हें जिधर जोत देते हैं, ये लोग उधर ही जुत जाते हैं।'

गणेशशंकर विद्यार्थी शुरुआत से ही राजनीति और धर्म के मेल के खिलाफ थे। कई मौके पर उन्होंने इसे लेकर अपनी नाराजगी भी जाहिर की। साल 1919-22 के खिलाफत आंदोलन की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा था, 'देश की आजादी के लिए वह दिन बहुत ही बुरा था जिस दिन आजादी के आंदोलन में खिलाफत, मुल्ला, मौलवियों और धर्माचार्यों को स्थान दिया जाना आवश्यक समझा गया।' उनका मानना था कि यह पहल आजादी के आंदोलन में एक कदम पीछे हटने जैसी थी। यह आंदोलन तुर्की के खलीफा के समर्थन में शुरू किया गया था और महात्मा गांधी ने इसे स्वतंत्रता के आंदोलन में मुस्लिम समुदाय को साथ लाने के एक मौके के रूप में देखा था।

अपने शुरुआती राजनीतिक जीवन में गणेशशंकर विद्यार्थी लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के विचारों से प्रभावित थे। 1920 में तिलक की मृत्यु के बाद उन्होंने गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार किया। हालांकि, कहा जाता है कि उन्होंने अपने ऊपर गांधीजी के विचारों को पूरी तरह हावी होने नहीं दिया। अहिंसा को वे शुरू से ही धर्म की बजाय एक नीति मानते रहे थे। लोगों द्वारा गांधी जी के बातों के अंधानुकरण किए जाने पर उन्होंने लिखा, 'गांधी जी की बातों को ले उड़ने से पहले हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह पहले उसका मर्म समझ लें। इससे उनका आशय धर्म के ऊंचे और उदार तत्वों से है।' वे धार्मिक कर्मकांडों की आलोचना करते हुए कहते हैं, 'अजां देने, शंख बजाने और नमाज पढ़ने का मतलब धर्म नहीं है। दूसरों की आजादी को रौंदने और उत्पात मचाने वाले धार्मिक लोगों की तुलना में वे नास्तिक आदमी कहीं अधिक अच्छे और ऊंचे दर्जे के हैं, जिनका आचरण अच्छा है।'

अंधराष्ट्रवाद के खतरों के बारे में गणेशशंकर विद्यार्थी ने आजादी के आंदोलन के समय ही आगाह कर दिया था। तब भी हिंदू राष्ट्र के पैरोकारों की एक धारा सक्रिय थी। 21 जून, 1915 को प्रताप में प्रकाशित अपने लेख में वे कहते हैं, 'देश में कहीं कहीं राष्ट्रीयता के भाव को समझने में गहरी भूल की जा रही है। हर रोज इसके प्रमाण हमें मिलते रहते हैं। यदि हम इसके भाव को अच्छे तरीके से समझ चुके होते तो इससे जुड़ी बेतुक बातें सुनने में न आतीं।' विद्यार्थी हिंदू राष्ट्र के नाम पर धार्मिक कट्टरता और संकीर्णता के सख्त खिलाफ थे और समय-समय पर इसे

लेकर लोगों को सावधान भी करते थे। राष्ट्रीयता शीर्षक से लिखे अपने इस लेख में वे आगे कहते हैं, 'हमें जान-बूझकर मूर्ख नहीं बनना चाहिए और गलत रास्ते नहीं अपनाने चाहिए। हिंदू राष्ट्र-हिंदू राष्ट्र चिह्नने वाले भारी भूल कर रहे हैं। इन लोगों ने अभी तक राष्ट्र शब्द का अर्थ ही नहीं समझा है।'

पत्रकारिता के साथ-साथ सामाजिक जीवन में सक्रिय गणेशशंकर विद्यार्थी देश का धर्म के आधार पर बंटवारा होने से पहले कह चुके थे कि भविष्य में कोई भी देश हिंदू राष्ट्र नहीं हो सकता। इसके पीछे उनका मानना था कि किसी राष्ट्र का होना उसी समय संभव है, जब देश का शासन उसके सभी नागरिकों के हाथ में हो। सभी नागरिकों से उनका आशय हर धर्म और जाति के लोगों से था। उस समय ही उन्होंने ऐसे आजाद भारत की कल्पना की थी, जहां हिंदू ही राष्ट्र के सब कुछ नहीं होंगे। इस बारे में उनका मानना था कि किसी वजह से ऐसी मंशा रखने वाले लोग गलती कर रहे हैं और इसके जरिए वे देश को ही हानि पहुंचा रहे हैं।

हिंदुओं के साथ-साथ विद्यार्थी जी ने मुसलमान समुदाय को भी निशाने पर लिया। अपने लेख में वे कहते हैं, 'ऐसे लोग जो टर्की, काबुल, मक्का या जेद्दा का सपना देखते हैं, वे भी इसी तरह की भूल कर रहे हैं। ये जगह उनकी जन्मभूमि नहीं है।' उन्होंने आगे ऐसे लोगों को अपने देश की महत्ता समझाते हुए कहा है, 'इसमें कुछ भी कटुता नहीं समझी जानी चाहिए, यदि कहा जाए कि उनकी कब्रें इसी देश में बनेंगी और अगर वे लायक होंगे तो उनके मरसिये भी इसी देश में गाए जाएंगे।'

गणेशशंकर विद्यार्थी उस दौर की शख्सियत थे जिस दौर में एक तबका राष्ट्रीयता पर भी सवाल उठा रहा था। ऐसे लोगों की आलोचना का सम्मान करते हुए उनका कहना था, 'संसार की किस वस्तु में गुण-दोष नहीं है जैसे; सूर्य का प्रकाश फूलों को रंग-बिरंगा बनाता है, लेकिन किसी लाश पर उसकी गरमी पड़ते ही वह सड़कर बदबू देने लगती है... हम राष्ट्रीयता के अनुयायी हैं, पर वही हमारी सब कुछ नहीं, वह केवल हमारे देश की उन्नति का एक उपाय भर है।'

यही कारण है कि आज जब धर्माधता और अंधराष्ट्रवाद फिर फन उठाए खड़ी है तो एक वर्ग है जिसे गणेशशंकर विद्यार्थी जैसी आवाज की कमी शिद्दत से महसूस होती है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रामविलास शर्मा का मानना था कि उनके असामयिक निधन से राष्ट्रीय राजनीति के साथ-साथ हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का जितना नुकसान हुआ उतना कांग्रेस के किसी दूसरे नेता की मृत्यु से नहीं हुआ।

क्यों था मुगल शासकों को संस्कृत से प्रेम

■ शुभनीत कौशिक

दो सौ वर्षों पूर्व जेम्स मिल द्वारा सांप्रदायिक आधार पर किए गए भारतीय इतिहास के काल-विभाजन ने न सिर्फ इतिहास के कालखंडों को धर्म के आधार पर बाँट दिया बल्कि इसके अंतर्गत भारतीय इतिहास के स्रोतों का बंटवारा भी कर दिया। नतीजतन मध्यकाल का इतिहास लिखते हुए सिर्फ फ़ारसी के स्रोतों का इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। इसके चलते मध्यकालीन भारत के इतिहासलेखन में उन ग्रन्थों की उपेक्षा कर दी गई, जो उसी दौरान संस्कृत भाषा में लिखे गए थे।

हाल के कुछ वर्षों में इतिहासकारों ने इस गलती को सुधारने की कोशिश की है। ऐसा ही एक उल्लेखनीय प्रयास किया है इतिहासकार आद्रे ट्रश्का ने अपनी बेहतरीन किताब 'कल्चर ऑफ एनकाउंटर्स : संस्कृत एट द मुगल कोर्ट' में।

भाषा, सत्ता और साम्राज्य के जटिल संबंधों की पड़ताल करती हुई यह किताब हमें बताती है कि आखिर कैसे और

क्यों मुगलों ने संस्कृत के विद्वानों को अपने दरबार में प्रश्रय दिया, संस्कृत के दर्जनों ग्रन्थों के फ़ारसी में अनुवाद कराए और फ़ारसी में भारतीय दर्शनग्रन्थों के विवरण तैयार किए।

ज्ञान के सृजन, आदान-प्रदान की यह अनूठी प्रक्रिया अकबर द्वारा अपने दरबार में संस्कृत के पंडितों और जैन विद्वानों को बुलाए जाने से शुरू हुई। बाद में, जहांगीर व शाहजहाँ ने अपने शासन काल में इस प्रक्रिया को और अधिक प्रोत्साहन दिया। दारा शिकोह की भारतीय दर्शन में गहरी रूचि और संस्कृत के प्रति उसका लगाव तो एक सर्वविदित ऐतिहासिक तथ्य है।

आद्रे ट्रश्का मुगल दरबार में संस्कृत के ग्रन्थों के अनुवाद और विद्वानों को प्रश्रय देने की ऐतिहासिक परिघटना की तुलना अब्बासी खलीफ़ाओं के समय में ग्रीक दर्शन परंपरा के साथ होने वाली अंतःक्रिया और चीन में ईसा की पहली सहस्राब्दी में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद की महत्वपूर्ण परियोजनाओं से करती हैं। संस्कृति, साहित्य और सत्ता के संबंधों को समझते हुए ट्रश्का की यह किताब

ज्ञान के सृजन, आदान-प्रदान की यह अनूठी प्रक्रिया अकबर द्वारा अपने दरबार में संस्कृत के पंडितों और जैन विद्वानों को बुलाए जाने से शुरू हुई। बाद में, जहांगीर व शाहजहाँ ने अपने शासन काल में इस प्रक्रिया को और अधिक प्रोत्साहन दिया। दारा शिकोह की भारतीय दर्शन में गहरी रूचि और संस्कृत के प्रति उसका लगाव तो एक सर्वविदित ऐतिहासिक तथ्य है।

उपनिवेशकाल से पूर्व की दुनिया में हुई सबसे जटिल सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं का लेखा-जोखा है।

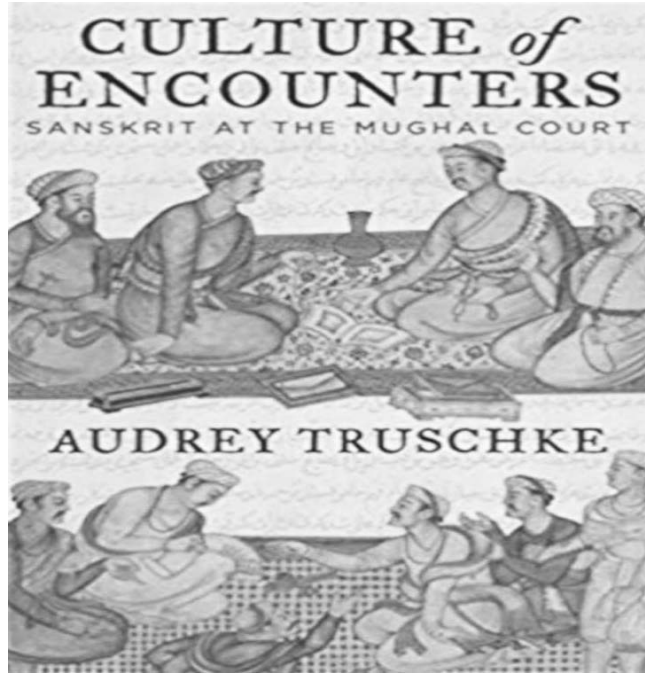
भारत में सोलहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के दौरान मुगलों की संप्रभुता की धारणा, उनके प्राधिकार (अथॉरिटी) व प्रशासन, सांस्कृतिक विविधता और साहित्यिक परम्पराओं के विकास से भी यह किताब हमें वाबस्ता कराती है। संस्कृत में मुगलों की रूचि को देखते हुए क्षेत्रीय शासकों व स्थानीय समुदायों ने भी मुगलों के सम्मान में प्रशस्तियाँ लिखवाने की शुरुआत की।

आद्रे ट्रशका विस्तारपूर्वक यह भी दिखाती हैं कि संस्कृत के पंडित और जैन विद्वान कैसे इस मुगल परियोजना का हिस्सा बने, इसमें स्वयं को समायोजित किया और खुद उन विद्वानों ने संस्कृत व फ़ारसी के बीच होने वाली अंतःक्रिया को कैसे देखा और समझा।

आद्रे ट्रशका के अनुसार, मुगल दरबार में संस्कृत का इतिहास दरअसल संस्कृति, भाषा व धर्म के बीच परस्पर अंतःक्रियाओं का समृद्ध दस्तावेज़ है। मुगल दरबार में आश्रय पाने वाले संस्कृत के पहले पंडितों में से एक थे उड़ीसा के महापात्र कृष्णदास, जो 1565 ई। में मुगल दरबार से जुड़े।

कृष्णदास को संगीत पर उनकी रचना 'गीतप्रकाश' के लिए जाना जाता है। कृष्णदास के बाद नरसिंह और 'नर्तननिर्णय' के रचयिता पुंडरीकविठ्ठल सरीखे विद्वान भी अकबर के दरबार से जुड़े। इसी क्रम में अकबर के दरबार में संस्कृत के लेखक गोविंदभट्ट भी आए, जिन्हें 'अकबरीय कालिदास' की उपाधि दी गई।

संस्कृत के इन विद्वानों के अतिरिक्त जैन विद्वान भी अकबर के दरबार में आए। पद्मसुंदर संभवतः वे पहले जैन विद्वान थे, जो अकबर से मिले। अकबर के निवेदन पर पद्मसुंदर ने 1569 ई। में 'अकबरी शृंगारदर्पण' की रचना की, जो कि संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र से संबन्धित ग्रंथ था। उनके बाद



1582 ईस्वीं में एक दूसरे प्रसिद्ध जैन विद्वान हरविजय अकबर के आमंत्रण को स्वीकार करते हुए मुगल दरबार में आए।

आद्रे ट्रशका की इस किताब में जहां एक ओर आप जगन्नाथ पंडितराज ('आसफ़ विलास'), कविन्द्राचार्य सरस्वती जैसे संस्कृत के उन प्रकांड विद्वानों से अवगत होते हैं, जिन्हें मुगलों ने प्रश्रय दिया। वहीं यह पुस्तक आपको इन विद्वानों व उनकी कृतियों के ऐतिहासिक महत्त्व से भी परिचित कराती है : शांतिचन्द्र

('कृपारसकोश'), रुद्रकवि (दानशाहचरित, खानखानाचरित, जहाँगीरचरित व कृतिसमुल्लास), हरिदेव मिश्र ('जहाँगीर विरुदावली')।

साथ ही यह किताब मुगल काल में लिखे गए उन जैन ग्रन्थों का भी विवरण देती है, जिनसे मुगल इतिहास के बारे में जानकारी मिलती है। मसलन, पद्मसागर, जयसोम, देवविमाला, सिद्धिचन्द्र, हेमविजय, गुणविजय और वल्लभ पाठक सरीखे जैन विद्वानों द्वारा सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के दौरान रचित ग्रंथ।

अद्वैत दर्शन के प्रकांड विद्वान मधुसूदन सरस्वती और अकबर के मुलाकात से जुड़ी किंवदंती की चर्चा करते हुए आद्रे ट्रशका इतिहास और मिथक को नए सिरे-से व्याख्यायित करने की जरूरत पर भी जोर देती हैं। और काव्य, चरित और प्रबंध जैसी शैलियों में लिखे ग्रन्थों के महत्त्व को रेखांकित करती हैं। इतिहास लेखन के क्रम में साहित्यिक व सांस्कृतिक पक्षों को ध्यान में रखकर प्रत्यक्षीकरण, प्रस्तुतीकरण और स्मृतियों के इतिहास की ओर भी वे हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं।

साभार : khabar.ndtv.com

(शुभनीत कौशिक इतिहास के शिक्षक हैं और आधुनिक भारत के इतिहास में गहरी दिलचस्पी रखते हैं।)

४ • समरथ

अक्टूबर-दिसम्बर 2018

न मूर्तियां तोड़ने से गोडसे जिंदा होंगे, न गोलियों से गांधी मर सकते हैं

■ प्रियदर्शन

एनसीईआरटी के प्रमुख रहे सुख्यात शिक्षाशास्त्री कृष्ण कुमार ने अपनी किताब 'शांति का समर' में एक बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल उठाया है—राजघाट ही हमारे लिए गांधी की स्मृति का राष्ट्रीय प्रतीक क्यों है, वह बिड़ला भवन क्यों नहीं है जहां महात्मा गांधी ने अपने आखिरी दिन गुजारे और जहां एक सिरफिरे की गोली ने उनकी जान ले ली? जब बाहर से कोई आता है तो उसे राजघाट क्यों ले जाया जाता है, बिड़ला भवन क्यों नहीं?

कृष्ण कुमार इस सवाल का जवाब भी खोजते हैं। उनके मुताबिक आधुनिक भारत में राजघाट शांति का ऐसा प्रतीक है जो हमारे लिए अतीत से किसी मुठभेद का ज़रिया नहीं बनता। जबकि बिड़ला भवन हमें अपनी आजादी की लड़ाई के उस इतिहास से आंख मिलाने को मजबूर करता है जिसमें गांधी की हत्या भी शामिल है—यह प्रश्न भी शामिल है कि आखिर गांधी की हत्या क्यों हुई?

गांधी की हत्या इसलिए हुई कि धर्म का नाम लेने वाली सांप्रदायिकता उनसे डरती थी। भारत-माता की जड़ मूर्ति बनाने वाली, राष्ट्रवाद को सांप्रदायिक पहचान के आधार पर बांटने वाली विचारधारा उनसे परेशान रहती थी। गांधी धर्म के कर्मकांड की अवहेलना करते हुए उसका मर्म खोज लाते थे और कुछ इस तरह कि धर्म भी सध जाता था, मर्म भी सध जाता था और वह राजनीति भी सध जाती थी जो एक नया देश और नया समाज बना सकती थी।

गांधी अपनी धार्मिकता को लेकर हमेशा निष्कंप, अपने हिंदुत्व को लेकर हमेशा असंदिग्ध रहे। राम और गीता जैसे प्रतीकों को उन्होंने सांप्रदायिक ताकतों की जकड़ से बचाए रखा, उन्हें नए और मानवीय अर्थ दिए। उनका भगवान छुआछूत में भरोसा नहीं करता था, बल्कि इस पर भरोसा करने वालों

को भूकंप की शक्ति में दंड देता था। इस धार्मिकता के आगे धर्म के नाम पर चलने वाली और राष्ट्र के नाम पर दंगे करने वाली सांप्रदायिकता खुद को कुंठित पाती थी। गोडसे इस कुंठा का प्रतीक पुरुष था जिसने धर्मनिरपेक्ष नेहरू या सांप्रदायिक जिन्ना को नहीं, धार्मिक गांधी को गोली मारी।

लेकिन मरने के बाद भी गांधी मरे नहीं। आमतौर पर यह एक जड़ वाक्य है जो हर विचार के समर्थन में बोला जाता है। लेकिन ध्यान से देखें तो आज की दुनिया सबसे ज्यादा तत्व गांधी से ग्रहण कर रही है। वे जितने पारंपरिक थे, उससे ज्यादा उत्तर आधुनिक साबित हो रहे हैं। वे हमारी सदी के तर्कवाद के विरुद्ध आस्था का स्वर रचते हैं। हमारे समय के सबसे बड़े मुद्दे जैसे उनकी विचारधारा की कोख में पल कर निकले हैं। मानवाधिकार का मुद्दा हो, सांस्कृतिक बहुलता का प्रश्न हो या फिर पर्यावरण का—यह सब जैसे गांधी के चरखे से, उनके बनाए सूत से बंधे हुए हैं।

अनंत उपभोग के खिलाफ गांधी एक आदर्श वाक्य रचते हैं—यह धरती सबकी ज़रूरत पूरी कर सकती है, लेकिन एक आदमी के लालच के आगे छोटी है। भूमंडलीकरण के खिलाफ ग्राम स्वराज्य की उनकी अवधारणा अपनी सीमाओं के बावजूद इकलौता राजनीतिक-आर्थिक विकल्प लगती है। बाज़ार की चौंधिया देने वाली रोशनी के सामने वे मनुष्यता की जलती लौ हैं जिनमें हम अपनी सादगी का मूल्य पहचान सकते हैं। गांधी को मारने वाले गोडसे की चाहे जितनी मूर्तियां बना लें, वे गोडसे में प्राण नहीं फूंक सकते। जबकि गांधी को वे जितनी गोलियां मारें, गांधी जैसे अब भी हिलते-डुलते, सांस लेते हैं, उनकी खट-खट करती खड़ाऊं रास्ता बताती है। आज इस भरोसे का भी दिन है।

भूदान, ग्रामदान, उद्योगदान, जीवनदान और विचारदान वाले विनोबा भावे का यह दान आखिर गया कहाँ!

इन अभियानों में अगर विनोबा लाखों लोगों को प्रेरित कर पाए तो सिर्फ इसलिए कि गांधीजी के जाने के बाद भारतीय समाज के सभी तबकों का उन पर सहज और सबसे ज्यादा भरोसा था

■ अव्यक्त

विनायक नरहरि भावे को 'विनोबा' का यह नाम महात्मा गांधी ने दिया था। नई पीढ़ी के लोग अक्सर इस बात का यकीन नहीं कर पाते कि भारत जैसे देश में लोगों ने अपने ही गांव-समाज के भूमिहीन लोगों के लिए ज़मीनें दान में दी होंगी। भारत के मौजूदा सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक वातावरण को देखते हुए सचमुच उनके लिए यह यकीन करना आसान भी नहीं है। लेकिन भारत और विनोबा के जीवन की इस सच्ची कहानी से गुजरना उनके लिए भी कम रोमांचक नहीं होगा।

विनोबा के व्यक्तिगत जीवन के बाकी प्रसंगों की कहानी फिर कभी। परिचय के रूप में भी अभी केवल इतना कि गणित और वैज्ञानिक अध्यात्म को अपने जीवन और चिंतन का आधार बनाने वाले विनोबा एक मौलिक विचारक, आजीवन शिक्षक और अहिंसक कर्मयोगी थे। किसी ने उन्हें आचार्य विनोबा कहा, तो किसी ने संत विनोबा और कईयों ने तो उन्हें ऋषि विनोबा और बाबा विनोबा तक कहकर संबोधित किया। लेकिन भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से के लिए वे केवल उनके अपने विनोबा रहे। गांधीजी के जाने के बाद भारतीय समाज के सभी तबकों ने जिस पर

सहज और सबसे अधिक भरोसा किया, जिसकी तरफ मार्गदर्शन के लिए देखा, वह निर्विवाद रूप से विनोबा ही कहे जा सकते हैं।

ऐतिहासिक शिखरयतों का मूल्यांकन आने वाली पीढ़ियों के लिए आसान नहीं होता क्योंकि इसके लिए महज दस्तावेजी सबूत ही काफी नहीं होते। इसके लिए तटस्थता, विनम्रता, वैचारिक अनेकांतता और गहरी संवेदनशीलता के साथ-साथ स्वयं अपने जीवन के स्तर पर भी अनुभूतिजन्य प्रयोगशीलता की जरूरत होती है। विनोबा के जीवन को देखने के लिए 'श्रद्धा' और 'भक्ति' के प्रचलित नमूनों से ऊपर उठना होगा, क्योंकि विनोबा स्वयं ही ऐसा सोचते थे। उन्होंने किसी को भी अपना गुरु मानने और किसी को भी अपना चेला बनाने से इनकार कर दिया था।

विनोबा ने कभी कोई संस्था नहीं बनाई। किसी पक्षविशेष के समर्थन और विरोध में नहीं उलझे। गरीबी और हिंसा की शिकार देश भर की जनता के बीच पैदल ही अहिंसा और प्रेम की तलाश करते हुए उनका पूरा जीवन करुणामय हो गया था। शायद इसीलिए उन्हें ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, शंकरदेव-माधवदेव और एकनाथ जैसों की श्रृंखला में ही संत जैसा मान लिया गया

था। लेकिन आधुनिक अर्थों में विनोबा मौलिकता से भरे अपनी तरह के एक 'सोशल इनोवेटर' कहे जा सकते हैं। जिनको अध्यात्म में रुचि हो, उनके लिए वे 'स्पीरिचुअल इनोवेटर' भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनके अध्यात्म में स्वाभाविक रूप से हृदय दर्जे की वैज्ञानिकता, मुक्तता और समावेशिकता मौजूद थी।

विषयांतर न हो, इसलिए आज हम उनके भूदान आंदोलन और इसकी मौजूदा स्थिति के बारे में बात करेंगे। आजादी के बाद भारत की सरकार के सामने सबसे बड़ा प्रश्न ज़मीन के बंटवारे का था। एक तरफ राजे-रजवाड़ों से लेकर ज़मींदारों और बड़े भूमिपतियों के पास बेहिसाब ज़मीनें थीं, और दूसरी ओर देश की बहुसंख्यक जनता भूमिहीन थी। वह भी तब जबकि इस कृषि प्रधान देश में ज़मीन ही सबसे आधारभूत पूंजी और संसाधन थी। जहां एक ओर ज़मींदारी उन्मूलन और भू-हदबंदी जैसे सरकारी प्रयास चल रहे थे, वहीं दूसरी ओर तेलंगाना में बंदूक के जरिए ज़मीन और संपत्ति छीन लेने का चरम-वामपंथी खूनी-संघर्ष भी छिड़ चुका था। सरकार ने भी हिंसा का जवाब हिंसा से और गोली का जवाब गोली से देना शुरू कर दिया। परिणाम यह हो रहा था कि रात में वाम-चरमपंथी और दिन में पुलिस उन लोगों को पकड़ती थी जिन पर उन्हें शक होता। फिर वे लोग या तो गोलियों से भून दिए जाते थे या गिरफ्तारी के बाद हवालात में उन पर अत्याचार होता था। इसके चलते आम लोगों में हाहाकार मचा हुआ था।

ऐसे हिंसारत इलाके में 15 अप्रैल, 1951 को विनोबा ने अपनी पदयात्रा शुरू की। पहला पड़ाव हैदराबाद में रहा। वहां की जेल में जाकर विनोबा हिंसामार्गी वाम-चरमपंथियों से भी मिले। बहुत गहरी सहानुभूति के साथ उन्होंने उनसे बातें कीं। हिंसा-अहिंसा की चर्चा से लेकर जेल जीवन को सुसह्य बनाने के लिए जेल की परिस्थितियों तक के ऊपर प्रकट और व्यक्तिगत बातें हुईं। पदयात्रा करते हुए 18 अप्रैल की सुबह विनोबा नलगोंडा जिले के पोचमपल्ली गांव में पहुंचे। यह कम्यूनिस्ट चरमपंथियों का गढ़ माना जाता था। गांव में चार खून हो चुके थे। आस-पास के गांवों को मिलाकर दो साल के भीतर इस इलाके में 22 हत्याएं हो चुकी थीं।

पड़ाव पर पहुंचने के बाद विनोबा गांव घूमने निकले। पहले हरिजनों की बस्ती में पहुंचे। एक-एक घर में जाकर उन्होंने अपनी आंखों से वहां के लोगों की हालत देखी।

हरिजनों ने अपना दुःख सुनाते हुए कहा—'हम बहुत गरीब हैं, बेकार हैं। आप हमें थोड़ी ज़मीन दिलाइये। उस पर मेहनत करके हम अपना पेट भर सकेंगे।' विनोबा ने पूछा—'कितनी ज़मीन चाहिए?'

हरिजनों ने कहा—'यहां हमारे 40 परिवार हैं। हमें 80 एकड़ ज़मीन भी मिल जाए, तो बहुत हो।'

विनोबा गहरी सोच में पड़ गए। उन्हें कुछ सूझ ही नहीं रहा था। वे बोले—'सरकार से बात करके आपको ज़मीन दिलाने की कोशिश करूंगा।' लेकिन विनोबा स्वयं अपने इस आश्वासन से संतुष्ट नहीं थे। सरकारों के काम करने का रवैया उन्हें मालूम था। एक बार अपने ऐसे ही किसी अन्य अनुशासक प्रयास के बाद नेहरू की सदिच्छा और कहने के बावजूद विनोबा को सरकार से निराशा ही हाथ लगी थी, और उन्होंने नेहरू को उनके सामने ही सहृदय विनोद में कहा था—'व्हेन ए किंग स्पीक्स, हिज़ आर्मी मूव्स, व्हेन ए बीर्ड्स मैन स्पीक्स, हिज़ बीर्ड मूव्स, बट व्हेन नेहरू स्पीक्स, नथिंग मूव्स' (जब कोई राजा बोलता है, तो उसकी सेना हिलती है, जब कोई दाढ़ीवाला बोलता है, तो उसकी दाढ़ी हिलती है, लेकिन जब नेहरू बोलते हैं, तो कुछ भी नहीं हिलता।) शायद यही सोचकर विनोबा ने सरकार के भरोसे नहीं रहने की सोची।

उन्हें एक बात सूझी। गांव के जो थोड़े लोग उनके सामने खड़े थे, उनसे उन्होंने पूछा—'क्या आप में से कोई ऐसे हैं, जो इन हरिजन भाइयों की मदद कर सकें? अगर इन्हें ज़मीन मिल जाए तो ये उस पर मेहनत करने के लिए तैयार हैं।'

इस पर रामचन्द्र रेड्डी नाम के एक भाई सामने आए और बोले—'मेरे पिताजी चाहते थे कि हमारी 200 एकड़ ज़मीन में से आधी ज़मीन कुछ सुपात्र लोगों में बांट दी जाए। कृपा कर मेरी 100 एकड़ ज़मीन का दान आप स्वीकार कीजिए।' विनोबा की आंखों से आंसू की धारा बह चली। सुनने वाले अपने कानों पर विश्वास नहीं कर पाए। रामचन्द्र रेड्डी ने तुरंत ही लिखकर दिया कि मैं अमुक गांव की अमुक ज़मीन हरिजनों को दान में देता हूँ।

उस रात तीन-चार घंटों तक विनोबा को नींद नहीं आई। इस बार में उन्होंने बाद में बताया—'मैं सोचने लगा कि यह क्या बात हुई?' दो चीजों पर मेरा विश्वास है। एक भगवान पर और दूसरा गणित-शास्त्र पर। मैं गणित की भाषा में सोचने लगा। मैंने माना कि अगर मुझे भारत के सभी

भूमिहीनों के लिए ज़मीन मांगनी हो तो कुल पांच करोड़ एकड़ ज़मीन मांगनी होगी। क्या इस तरह मांगने से इतनी ज़मीन मिल सकेगी?’

लेकिन अपनी इन शंकाओं को ताक पर रखकर और अहिंसा-मार्ग में विश्वास रखकर विनोबा मांगते चले गए और लोग देते चले गए। समूचे वातावरण में एक अद्भुत और दिव्य भावना का संचार हो चुका था। 27 जून, 1951 को जब विनोबा पदयात्रा करते हुए अपने पवनार आश्रम (महाराष्ट्र) वापस पहुंचे तो इन 70 दिनों में उन्हें कुल 12 हजार एकड़ ज़मीन भूदान में मिल चुकी थी। इसके बाद तो आगे करीब दो दशकों तक विनोबा सतत चलते रहे। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, असम से लेकर गुजरात तक हजारों मील की उन्होंने पैदल यात्राएं कीं। 42 लाख एकड़ ज़मीन उन्हें भूदान में मिली। इसमें से 15 लाख तो तत्काल ही भूमिहीनों में बांट भी दी गई। जिस ज़मीन के कारण भाई-भाई का सिर काटता है, गोलियां चलती हैं, जिसके लिए लोग सारा जीवन कोर्ट-कचहरियों के चक्कर काटते बिता देते हैं, वह ज़मीन लोगों ने विनोबा को प्रेम से दी। इनमें से ज्यादातर ज़मीनें हरिजनों और आदिवासियों के बीच ही बांटी गईं।

बातें बनाने वालों और अहिंसक तरीकों पर शंका करने वालों ने बातें तब भी खूब बनाई थीं। किसी ने कहा कि लोग केवल बंजर, अनुपजाऊ या पथरीली ज़मीनें ही दान कर रहे हैं। किसी ने कहा कि लोग कम्युनिस्ट-चरमपंथियों के डर के मारे ज़मीन दान कर रहे हैं। किसी ने कहा कि भला ऐसे दान-धर्म से क्रांति होती है! कुछ वामपंथियों ने इसे सर्वहारा क्रांति को नुकसान पहुंचाने के प्रयास के रूप में भी देखा। लेकिन विनोबा चलते गए। उन्होंने अपने लेख—‘गांधीजी अपने साम्यवादी’ में साम्यवाद शब्द और विचार को ही एक नया और मौलिक अर्थ प्रदान किया था। ईएमएस नम्बूदरीपाद और एसए डांगे जैसे धुर वामपंथियों तक से उनके आत्मीय संबंध रहे।

इसी बीच विनोबा की पदयात्रा के दौरान 24 मई, 1952 को एक अनोखी घटना हुई। उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले के मंगरोठ गांव के लोगों ने विनोबा के पास आकर पूरे गांव की ज़मीन ही विनोबा को दान कर दी। इस तरह ग्रामदान के विचार का जन्म हुआ। यह घटना गांधीजी के ट्रस्टीशिप के विचार को चरितार्थ कर देने जैसी थी। मंगरोठ गांव के लोगों ने कहा कि हमारा गांव अब एक परिवार बन गया है, इसलिए पूरे गांव का लगान ग्रामसभा एक साथ

जमा कर देगी। लेकिन राजस्व विभाग के अधिकारी ने कहा कि हम आपके ग्रामदान को नहीं मानते। इस तरह लगान की इकट्टा वसूली करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। उन दिनों गोविंद वल्लभ पंत उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे। बात उनके पास पहुंची। वे तुरंत समझ गए कि अगर इस अच्छी बात को नहीं माना जाएगा तो सरकार की बदनामी होगी। उन्होंने फौरन हुक्म जारी किया कि पूरे गांव का लगान इकट्टा वसूल कर लिया जाए।

ग्रामदान एक ऐसा अनोखा विचार था जिसने जेपी जैसे समाजवादी को भी विनोबा का भक्त बना दिया और जेपी ने इसके लिए अपने जीवनदान की घोषणा कर दी। 1962 में चीनी आक्रमण के बाद साम्यवादी चीन के विचारधारात्मक आक्रमण से निपटने के लिए भी इसे एक वैचारिक ‘डिफेंस मेजर’ के रूप में देखा गया। 1969 तक देशभर में लगभग सवा लाख ग्रामदानी गांव बन चुके थे। इस आंदोलन का नारा था—‘सबै भूमि गोपाल की, नहीं किसी की मालिकी’। उस समय के दुनिया के सबसे प्रसिद्ध लेखकों में से एक अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर ने कहा था—‘ग्रामदान पूरब की ओर से आने वाला सबसे अधिक रचनात्मक विचार है।’

इसी ग्रामदान के प्रति अपना जीवनदान देने वाले जेपी के मन में एक और अनोखा विचार आया और वह था ‘उद्योग-दान’ का। पूंजीवादी श्रम शोषण का बहुत बड़ा समाधान इसमें छिपा था। गुजरात के प्रबोध चौकसी ने भी वर्षों तक इस उद्योग-दान के लिए अहिंसक संघर्ष किया। स्वयं विनोबा ने इसे ग्रामदान का ही एक हिस्सा बताते हुए राजगृह सम्मेलन में कहा था—‘ग्रामदान आन्दोलन का एक उद्देश्य यह भी है कि मिलों और कारखानों के मालिक और व्यापारी तथा उद्योगपति आदि लोग समाज की साझेदारी के विचार को कबूल करें। हम इसकी मांग उनके सामने रखें और अपनी ऐसी शक्ति खड़ी करें कि वे इनकार न कर सकें।’

इस सबके बीच विनोबा कहीं भी जाते तो अन्य बातों के अलावा सर्वधर्म प्रार्थना सभा अनिवार्य रूप से होती। कई बार केवल मौन प्रार्थना होती। और इसके बाद विनोबा का अपनी ओर से कुछ विचार-दान होता। ये विचार इतने मानवीय, वैज्ञानिक और उदात्त होते कि लोगों का सहज ही इनमें मन रम जाता। विनोबा के हृदय की करुणा का संचार उनको सुनने वालों में भी हो जाता। एक बार तो ऐसा हुआ कि मंगरू नाम के एक फटेहाल मजदूर अपनी आधी एकड़ ज़मीन में से पांच कट्टा ज़मीन विनोबा को दान करने की

जिद करने लगे। रामचरण नाम के एक दृष्टिहीन 11 बजे रात को विनोबा के शिविर में पहुंचे और ज़मीन का दानपत्र विनोबा को सौंप कर गए। वहीं एक तीन सौ एकड़ ज़मीन के मालिक एक बार केवल एक एकड़ दान करने के लिए विनोबा के पास पहुंचे, लेकिन विनोबा के विचार सुनकर उन्होंने लज्जित हो तीस एकड़ ज़मीन दान में दी। विनोबा के विचारों की यह धरोहर आज भी सर्व सेवा संघ और ब्रह्म विद्या मंदिर जैसे परिवारों ने संभाल कर रखी है और यथाशक्ति उसके प्रसार की भी कोशिश की है। आज के हिंसारत और युद्धरत विश्व में ऐसे अहिंसक और वैज्ञानिक विचार ही हमें राह दिखा सकती हैं। लेकिन दुर्भाग्य है कि औपचारिक स्कूली शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा तक में विनोबा के विचारों और प्रयासों की जानकारी सिरे से गायब है।

वैसे यह एक लिहाज से अच्छा भी है। विचार से लेकर प्रयासों तक के सरकारीकरण में अच्छी खासी चीजों की भी कई बार दुर्गति हो जाती है। इसे सबसे अच्छी तरह तो भूदान आंदोलन के उदाहरण से ही समझा जा सकता है। भूदान आंदोलन में मिली ज़मीनों में से 10 लाख एकड़ ज़मीन आज भी बिना बंटें ही सरकारी राजस्व विभाग की फाइलों में धूल फांक रही है। विनोबा को इस सरकारी अकर्मण्यता का भान आंदोलन के दौरान ही हो गया था। इसलिए उन्होंने 1963 में कहा था—‘मैं पहले यह मानता था कि जब कोई दान दे चुकता है, तो दान में दी गई ज़मीन को बांटने का उसे कोई अधिकार नहीं रहता। यह एक बहुत बड़ी भूल हो गई। क्रांति की जिद और पुण्य-मोह के कारण यह स्थिति बनी। यदि उस समय यह निश्चय किया गया होता कि दाता खुद ही ज़मीन बांट दे, तो बहुत सी ज़मीन झटपट बंट जाती और दाता-आदाता दोनों के बीच प्रेम का नाता भी बनता।’

इसी तरह 1957 में केरल यात्रा के दौरान विनोबा ने लोगों से कहा—‘मुझे दान-पत्र नहीं, प्राप्ति पत्र दीजिए। आप अपनी जो ज़मीन भूदान में देना चाहते हैं, उसे आप ही बांट दीजिए, और जिसे आप बांटें, कागज पर उसका हस्ताक्षर और साक्षी का हस्ताक्षर प्राप्त कर लीजिए। यही प्राप्ति पत्र होगा। नहीं तो ज़मीन यों ही पड़ी रह जाएगी।’

इन पंक्तियों के लेखक को हाल में एक जिला सर्वोदय मंडल के कार्यक्रम में जाने का अवसर मिला। यह संगठन भूदान में मिली ज़मीनों को बंटवाने के प्रयास में

आज भी संलग्न है। दूर-दूर से आए ग्रामीणों ने अपनी-अपनी आपबीती सुनाई। सबके हाथों में भूदान वाली ज़मीन से संबंधित कागजात थे। लेकिन कई लोगों का उन ज़मीनों पर कब्जा न था। कड़ियों से वे ज़मीनें बाद में जबरन छीन ली गईं। भूदान की कई ज़मीनें ऐसी भी हैं जिनको लेकर भाई-भाई में विवाद है, यानी ज़मीन बड़े भाई ने अपने नाम करा ली और बाकी भाइयों को देने से इंकार कर दिया। कई मामलों में राजस्व विभाग भूदान की ज़मीनों पर लोगों से राजस्व तो वसूलता है, लेकिन वह ज़मीन कहां है या उसका कब्जा कैसे मिलेगा, इसके लिए कुछ भी करना नहीं चाहता।

और तो और हाल में करीब नौ राज्यों से ऐसी घटनाएं प्रकाश में आई हैं, जहां सरकारें स्वयं ही भूदान की ज़मीनों को कार्पोरेट समूहों और हाउसिंग समूहों को पैसों के एवज में हस्तांतरित कर रही हैं। आंध्र प्रदेश शहरी विकास प्राधिकरण ने भूदान अधिनियम के प्रावधानों को ताक पर रखते हुए विशाखापत्तनम में भूदान की ज़मीनें हाउसिंग परियोजनाओं के लिए आवंटित कर दी है। रंगारेड्डी जिले में भूदान की ही करीब 1500 करोड़ रुपये की ज़मीन उद्योगपतियों को बेच दी गई हैं, जिसकी अभी जांच चल रही है। महाराष्ट्र में भी राजनीतिज्ञों, बिल्डरों और हाउसिंग सोसायटियों द्वारा भूदान की ज़मीनें हड़पे जाने पर जांच चल रही है। बिहार में तो भूदान की ज़मीनें विधायकों द्वारा ही हथिया लिए जाने के मामले प्रकाश में आए हैं, जिनमें सभी दलों के विधायक शामिल हैं।

इस सबके बावजूद आपको आज भी देश के कई कोनों में हरे-भरे ‘विनोबा ग्राम’ मिल जाएंगे। भूदान में ज़मीन पाकर अपना जीवन संवारने वाले लाखों परिवार आज भी देश में मौजूद हैं। कमियों के बावजूद इतना तो था ही कि इस आंदोलन ने भूमिहीनता की समस्या और भूमि-सुधार की जरूरत को लेकर एक अनोखा नैतिक वातावरण पूरे देश में तैयार कर दिया था। ज़मीन का सवाल आज भी खासकर हरिजनों और आदिवासियों के सामने खड़ा है। और हम हैं कि भूदान आंदोलन की खामियां गिनाकर विनोबा को असफल करार देने का आत्मघाती और कृतघ्नभावी लोभ छोड़ नहीं पा रहे हैं। एक ऐसे समय में जब विचारों की ज़मीन ही इतनी दलदली होती जा रही हो, जहां हृदय की ज़मीन बंजर और प्रतिक्रियावादी हिंसा की ज़मीन उर्वर होती जा रही हो, वहां दान, त्याग, सेवा और सद्भाव की ऐसी ज़मीनी कहानियां हमें अविश्वनीय, काल्पनिक और असंभव इत्यादि लगे तो इसमें आश्चर्य क्या है!

साभार : सत्याग्रह

अल्लाह जिलाई बाई : जिनकी वजह से केसरिया बालम दुनिया को राजस्थान का न्यौता बन गया

ढोला-मारू की प्रेम कहानी से जुड़ा यह लोकगीत सदियों से राजस्थान की मिट्टी में बसा है, लेकिन इसे सम्मान के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचाया अल्लाह जिलाई बाई ने

■ पुलकित भारद्वाज



आसमान तक ऊंचे रेत के धोरे और रेत की ही सुनहरी चादर में लिपटी ज़मीन। दूर-दूर तक दिखता रेत का अनंत सैलाब या फिर नीला सूना अंबर जिसके दामन में अक्सर बादल का एक टुकड़ा भी नहीं होता। राजस्थान कहते ही इसके अलावा याद आता है बलिदान, शौर्य और अदम्य साहस। साथ ही याद आती है रंग-रंगीली संस्कृति।

हो सकता है कि आप कभी राजस्थान न गए हों। लेकिन यह तय है कि राजस्थान आप तक कभी न कभी जरूर आया होगा। कभी गले में गोरबंद लटकाए ऊंट पर सवार होकर, कभी दाल-बाटी-चूरमा के साथ थाल में सजकर और कभी 'केसरिया बालम' का सुर बनकर। केसरिया बालम यानी एक मीठी सी मनुहार जिसे गाकर पावणों को अपने 'देस' में न्यौता जाता है। शायद इस मनुहार की मिठास का ही असर है जो राजस्थान की सूखी धरती की तरफ देशी-विदेशी मेहमान अनायास ही खिंचते चले आते हैं।

केसरिया बालम अब राजस्थान की संस्कृति का अभिन्न प्रतीक बन चुका है। ढोला-मारू की प्रेम कहानी से जुड़ा यह लोकगीत न जाने कितनी सदियों से राजस्थान की मिट्टी में रच-बस रहा है। लेकिन माटी के इस गीत को सम्मान के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचाने वाली महिला का नाम था अल्लाह जिलाई बाई जिन्हें पूरी दुनिया में मरू कोकिला और बाई जी के नाम से जाना जाता है। अल्लाह जिलाई बाई के भीने-

भीने स्वर रेतीले राजस्थान में बारिश की कमी को पूरा कर देते थे। कहते हैं कि मरूस्थल की इस बेटी की मखमली आवाज जब बियाबान रेगिस्तान में गूंजा करती थी तो जैसे यहां की बंजर धरती की आत्मा भी तृप्त हो जाती थी।

अल्लाह जिला बाई ने सबसे पहले केसरिया बालम बीकानेर महाराजा गंगासिंह के दरबार में गाया था। ये वही गंगासिंह थे जिन्होंने पहले विश्वयुद्ध में युद्ध में अंग्रेजों की तरफ से भाग लिया और 'गंगा री शाला' नाम से ऊंटों की एक सेना बनाई थी जिसके पराक्रम को (पहले और दूसरे विश्वयुद्ध में) देखते हुए बाद में इसे बीएसएफ में शामिल कर लिया गया।

महाराज गंगासिंह ने अपने जीवन और शासनकाल में लोककल्याण के लिए कई काम किए थे। लेकिन उनके दो अविस्मरणीय योगदान ऐसे थे जिनके लिए कहा जाता है कि मरूभूमि सदैव उनकी ऋणी रहेगी। 1927 में महाराज गंगासिंह ने अपने नाम को सार्थक करते हुए पंजाब से राजस्थान तक 'गंगनहर' का निर्माण करवाया और मरूस्थल के भागीरथ के नाम से जाने गए। गंगनहर के अलावा महाराज ने प्रदेश को जो दूसरा बेशकीमती तोहफा दिया वे थीं खुद अल्लाह जिलाई बाई।

बाई जी के हुनर को महाराज ने तब परख लिया था जब वे 10 साल की छोटी बच्ची थीं। उन्होंने बाई जी की तालीम के लिए दरबार के मेहनताने पर

पहले उस्ताद हुसैन बख्श और बाद में अच्छन महाराज को मुकर्र किया था। जल्द ही अल्लाह जिलाई बाई अपने फन में माहिर हो गई। अपने उस्तादों से उन्होंने मांड, ठुमरी, ख्याल और दादरा जैसी सभी शैलियों में गाना सीखा था।

वैसे तो अपनी जीवन यात्रा के दौरान अलग-अलग पड़ावों पर बाई जी ने कई बेहतरीन नगमे गुनगुनाए थे लेकिन मांड शैली में गाए उनके केसरिया बालम को श्रोताओं का सबसे ज्यादा प्यार नसीब हुआ। और होता भी क्यों नहीं! राजस्थान की इस बेटे ने इस गीत को गाया ही इस अंदाज से था कि वीरता और पराक्रम का प्रतीक केसरिया भी मानो बाई जी के स्वर पाकर पहले से कहीं ज्यादा उज्ज्वल हो गया था।

केसरिया हो या मूमल या पणिहारिन या फिर गोरबंद, बाई जी ने राजस्थान की उस साझी लोक विरासत को प्रस्तुत किया जो भक्ति-सूफी काल से यहां चली आ रही थी। कहना गलत नहीं होगा कि बाई जी उसी मिली-जुली संस्कृति की वारिस थीं जिसे मीरा, दादू और मोइनुद्दीन चिश्ती जैसे संत-फकीरों ने मिलकर सींचा था। यह शायद उसी गंगा-जमुनी तहजीब का कमाल था जो इस्लाम से ताल्लुक रखने वाली बाई जी के स्वर पाकर 'हिंदू केसरिया' निखर गया था।

राजस्थान की इस मिली-जुली तहजीब को हमेशा अपने दिल में संजोए बाई जी और उनकी आवाज बीकानेर राजपरिवार में नई किलकारी गूंजने से लेकर शाही बारात के स्वागत तक तमाम हिंदू रस्मों से कभी न अलग होने के लिए जुड़ चुकी थीं।

महाराज गंगासिंह के स्वर्गवास के बाद अल्लाह जिलाई बाई पूरे देश के लिए ऑल इंडिया रेडियो के माध्यम से अपनी प्रस्तुति देने लगीं। राजस्थान की रंगीली संस्कृति का चेहरा बन चुकी इस कलाकार को संगीत के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान के लिए भारत सरकार ने 1982 में देश के सर्वोच्च नागरिक सम्मान में से एक पद्मश्री से नवाजने का फैसला किया।

राजस्थान के लोकसंगीत को देश-विदेश में एक नया आयाम दिलाने वाले जाने-माने कलाकार मामे खान एक बातचीत में कहते हैं, 'केसरिया बालम को बाई सा ने मांड शैली में गाया था। मांड लोकजीवन से जुड़ी हुई वह शैली है जिसके आलाप से अपने देस और अपनी मिट्टी की महक आती है।'

केसरी चंद मालू जो उस वीणा म्यूजिक कंपनी के मालिक हैं जिसने बाई जी के लुप्तप्राय हो चुके गीतों को जुटाकर फिर से दुनिया के सामने पेश किया है। उन्होंने पद्मश्री से सम्मानित होने के मौके पर अल्लाह जिलाई बाई के साथ राजस्थान से दिल्ली तक का सफर तय किया था। बीते दिनों को याद करते हुए वे बताते हैं, 'उन दिनों कला का राजनीतिकरण नहीं किया जाता था, संगीत को ईश्वर की आराधना समझा जाता था। उस जमाने में अधिकतर कलाकार मुस्लिम ही हुआ

करते थे जो शिव से लेकर कृष्ण तक की प्रशंसा में अपनी आवाज से श्रद्धासुमन अर्पित करते थे। चाहे गणगौर हो या तीज, ये मुस्लिम कलाकार हमारे त्यौहारों को अपना समझ कर ही मनाते थे।'

केसरी चंद मालू आगे बताते हैं कि अल्लाह जिलाई बाई बीकानेर राजदरबार का अभिन्न अंग थीं। चाहे किसी कुंवर के जन्म पर हालरिया (स्थानीय लोरी गीत) गाने हों या शाही बारात का डेरा (गांव के बाहर बारात आकर रुक जाती थी) देखने जाते समय 'जल्ला', अल्लाह जिलाई बाई अपनी जादुई आवाज से इन मौकों को बहुत खास बना देती थीं। वे कहते हैं, 'बाई जी ने जितनी भी बार केसरिया बालम गाया वे उसे हर बार अलग अंदाज से गाती थीं।' वे यह भी बताते हैं कि बाई जी द्वारा तकरीबन दसियों तरह से गाया केसरिया बालम का संग्रह उनके पास मौजूद है।

बाई जी के गीतों के संग्रह को लेकर भी बेहद दिलचस्प किस्सा जुड़ा हुआ है। केसरी चंद मालू बताते हैं, "उस दौर में तकनीकें इतनी विकसित नहीं थीं और न मैं खुद को इस लायक समझता था कि बाई सा से हमारे लिए रिकॉर्डिंग के लिए कह सकूं। लेकिन बाई जी के जाने के बाद अहसास हुआ कि हमने क्या खोया है। हमेशा फिक्र सताती थी कि कैसे आने वाली पीढ़ियों को बाई जी और राजस्थान की संस्कृति के बारे में बताया जाएगा क्योंकि अल्लाह जिला बाई ने 'केसरिया बालम' अधिकतर रेडियो के लिए ही गाया था और उसकी रिकॉर्डिंग बहुत अच्छी गुणवत्ता में उपलब्ध नहीं थी।'

फिर एक दिन केसरी चंद मालू को किसी सज्जन ने बताया कि भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) के एक अधिकारी भीमसिंह जी के पास बाई सा के पुराने बिरले गीतों का कलेक्शन मौजूद है। वे भीमसिंह जी के घर पहुंच गए। लेकिन तमाम मिन्नतों के बाद भी भीमसिंह ने उन्हें यह संग्रह देने से इनकार कर दिया।

लेकिन मालू साहब भी बाई सा के गीतों को पाने की ठान चुके थे। इसी बीच भीमसिंह जी का स्वर्गवास हो गया और उनके बाद उनके बेटों ने बाई जी और राजस्थान की संस्कृति के प्रति केसी मालू का अटूट प्रेम और समर्पण देखकर उन्हें भीमसिंह जी का अब्दुत संग्रह दे दिया। वे बताते हैं कि उस संग्रह के खास गीतों की साउंड क्वालिटी सुधारने की लंबी प्रक्रिया के बाद उनका डिजिटाइजेशन किया गया और फिर सीडी के जरिए श्रोताओं के लिए उपलब्ध करवाया गया।

एक फरवरी 1902 को पैदा हुई अल्लाह जिलाई बाई तीन नवंबर 1992 को दुनिया से रुखसत हुई थीं। इस दौरान उन्होंने न जाने कितने उतार-चढ़ाव देखे लेकिन संगीत का दामन हमेशा थामे रखा। बाई जी तो अब हमारे बीच मौजूद नहीं हैं, लेकिन उनकी आवाज 'पधरो म्हारे देश जी' की तान के रूप में दुनिया को हमेशा राजस्थान आने का न्योता देती रहेगी।

धान : भारत की जान

एशिया की पहचान

और जापान का भगवान

एशिया की सांस्कृतिक विरासत के साझे सूत्र धान की फसल इन दिनों अपने संधि काल में है

■ निराला

गांव गया था। कुछ दिन रहकर लौटना हुआ है। गांव में दुनिया भर की व्यर्थ बातों का बवाल नहीं है। न उस पर बतकही है। गांव में चिंता और बतकही का विषय धान है। ना तो अभी आषाढ़-सावन है कि धान की रोपाई हो रही है तो उस पर बात हो। न ही अभी अगहन या पूस है कि धान की कटाई हो रही है तो उस पर बात हो। हां, ये दोनों महीने नहीं हैं लेकिन, धान के लिए अभी सबसे महत्वपूर्ण महीना है। खेतों में लहलहाती धान की फसल संधिकाल में है। यानि आषाढ़-सावन में जो मेहनत हुई, उससे अगहन-पूस में क्या हासिल होगा, यह अभी ही धान का रंग-ढंग देख किसान बता देते हैं। इसलिए इस संधिकाल में किसान खूब सेते हैं

धान को। कीट-पतंगों से बचाते हैं, आसपास घास-फूस नहीं लगने देते।

यूं भी किसानों का धान से प्रेम कुछ अलग किस्म का ही रहा है। धान को किसानों का प्राण कहा जाता है। सिर्फ भारत ही नहीं, धान पूरे एशिया की जान है। और एशिया में भी अगर खास तौर पर जापान की बात करें तो वहां जाते-जाते धान भगवान की तरह हो जाता है। धान पर निर्भरता इतनी है, इससे जीवन में खुशी के इतने रंग मिलते हैं कि कई विशेषज्ञ और विचारक धान को महज फसल या एक अनाज भर नहीं मानकर इसे अपने आप में एक मुकम्मल सांस्कृतिक विरासत भी कहते हैं।

धान को किसानों का प्राण कहा जाता है। सिर्फ भारत ही नहीं, धान पूरे एशिया की जान है। और एशिया में भी अगर खास तौर पर जापान की बात करें तो वहां जाते-जाते धान भगवान की तरह हो जाता है। धान पर निर्भरता इतनी है, इससे जीवन में खुशी के इतने रंग मिलते हैं कि कई विशेषज्ञ और विचारक धान को महज फसल या एक अनाज भर नहीं मानकर इसे अपने आप में एक मुकम्मल सांस्कृतिक विरासत भी कहते हैं।

कोई पांच-छह साल पहले मशहूर अध्येता और लेखक एडवर्ड एल्गर की एक किताब आयी थी—‘द राइज ऑफ एशिया’। इस

किताब की चर्चा दुनिया भर में हुई। सामंजस्य और आपसी रिश्तों को लेकर कई चुनौतियों से गुजर रहे एशियाई देशों में इसकी सराहना हुई। इस किताब में एल्गर ने भविष्य में समूह के तौर पर एशियाई देशों के उदय और विकास के संदर्भ में कुछ सूत्र दिये हैं। अध्ययन-अनुभव से उपजे तथ्यों और तर्कों के आधार पर एल्गर ने कहा है कि भविष्य में एशियाई देश यदि बड़ी ताकत बनेंगे या कि एक होंगे तो उनमें अहम भूमिका तीन समान अवलंबनों की होगी और ये तीनों भारत की देन हैं। एक धान या चावल खाने की आदत, दूसरा रामायण की लोकप्रियता और तीसरा बुद्ध।

अब इसमें अगर धान की बात करें तो दुनिया के 100 देशों में धान की खेती होती है। एक आंकड़े के मुताबिक दुनिया का हर तीसरा आदमी किसी न किसी रूप में धान का सेवन करता है। लेकिन दुनिया में जो धान का उत्पादन होता है उसका 80 प्रतिशत हिस्सा एशिया में होता है।

भारत के महान कृषि वैज्ञानिक रमेश दत्त शर्मा ने 70 के दशक में धान पर एक महत्वपूर्ण शोध पत्र प्रस्तुत किया था, जिसे बाद में आलेख की शकल में भी कई जगह प्रकाशित किया गया था। उस शोध पत्र में धान का इतिहास बहुत ही विस्तृत रूप में है। एशिया के दो सौ करोड़ से ज्यादा लोगों सीधे तौर पर जीवन जीने के लिए धान पर ही निर्भर हैं। एशिया में धान ही एक ऐसी खेती है जो हर तरह की जलवायु में होती है। नेपाल और भूटान में 10

हजार फुट से ऊंचे पहाड़ हों, या केरल में समुद्रतल से भी 10 फुट नीचे, हर जगह धान की खेती होती है।

इतिहास— धान का वैज्ञानिक इतिहास यह है कि यह भी पहले अन्य पौधों की तरह जंगल में अपने-आप ही उगा करता था। अपने आप धान की बालियों से बीज धरती में समाते थे, फिर अंकुरित होते थे और इसके बाद पौधे तैयार होते रहते थे। आज जो धान है उसके बारे में कहा जाता है कि सदियों पहले इसकी शुरुआत उत्तरी हिमालय से हुई थी। यहीं से धान हमारे देश के बाकी हिस्सों में और अफ्रीका के अलावा सारे संसार में फैला। भारत में धान कितनी पुरानी फसल है, इसका अनुमान इसी से लगा सकते हैं कि झारखंड में राजमहल की पहाड़ियों से लेकर कम से कम 37 जगहों की खुदाई में धान के बीज मिले हैं। मोहनजोदड़ो (अब पाकिस्तान में) के अतिरिक्त गुजरात में लोथल और रंगपुर में ईसा से दो हजार साल पहले का धान मिला है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में प्राचीन स्थलों की खुदाई से भारत की प्राचीन धान-प्रधान संस्कृति का पता चलता है। चीन, जापान, कोरिया और थाइलैंड आदि देशों में की गई खुदाइयों में भी धान मिला है।

अलग-अलग भाषाओं में उनके नामों से भी कौन पौधा कहां से कहां गया, इसका पता चल सकता है। धान के लिए लैटिन भाषा का 'ओराइजा' और अंग्रेजी का 'राइस' ये दोनों



नाम तमिल भाषा के 'अरिसि' शब्द से उपजे हैं। अरब के सौदागर अपने साथ अरिसि ले गए तो वह अरबी भाषा में 'अल-रूज' या 'अरूज' बन गया। आगे जाकर स्पेनिश में 'अरोज' हो गया। ग्रीक में यही 'औरिजा' और लैटिन भाषा में 'ओराइजा' बन गया। इतालवी में 'राइसो', फ्रेंच में 'रिज', जर्मन में 'रीइस' रूसी में 'रीस' और अंग्रेजी भाषा में 'राइस' बन गया। संस्कृत में रोपा धान को 'व्रीहि' कहते हैं। तेलुगु में इसी से वारी शब्द बना। अफ्रीका के पूर्वी तट पर बसे देश मैडागास्कर की 'मलागासी' भाषा में भी धान को 'वारी' या 'वारे' कहते हैं। ईरान की फारसी भाषा में 'व्रीहि' से ही ब्रिज बना। कौटिल्य या चाणक्य ने अपने संस्कृत ग्रंथ अर्थशास्त्र में साठ दिन में पकने वाले धान का वर्णन किया है। इसे आजकल साठी कहते हैं।

बौद्ध संस्कृति में भी धान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गौतम बुद्ध के पिता का नाम था शुद्धोदन। यानी शुद्ध चावल। वट वृक्ष के नीचे तप में लीन गौतम बुद्ध ने एक वन-कन्या सुजाता के हाथ से खीर खाने के बाद बोध प्राप्त किया और बुद्ध कहलाए। बौद्ध धर्म के साथ ही धान की खेती और इसकी संस्कृति भारत के पड़ोसी देशों म्यांमार, इंडोनेशिया, थाइलैंड, चीन, जापान और कोरिया तक फैली। यानी दुनिया को धान भारत का ही दान है।

चीन की राजधानी बीजिंग में शहर के दाएं तरफ एक मंदिर हुआ करता था। नाम था स्वर्ग मंदिर। यहां पर सदियों तक कृषि-उत्सव होता रहा। उत्सव के दिन चीन के राजा किसानों की पीली पोशाक पहनकर आते थे। स्वर्ग मंदिर की बगल में ही एक खेत में गाजे-बाजे के साथ राजा हल चलाते। ईसा से कोई ढाई हजार साल पहले हुए इसी राजा शुन नुंग ने चीन के लोगों को पांच अनाजों की खेती करना सिखाया था। इनमें से एक था ताओ यानी धान।

उस जमाने में देशों के बीच सड़कें नहीं थीं। फिर भी धान के दाने और उन्हें उगाने के तरीके दूर-दूर तक फैलते रहे। समुद्री सौदागर, हमलावर और प्रवासी यात्री जहां-जहां गए उनके साथ धान भी चलता गया। जिन्होंने कभी चावल देखा भी नहीं था, वे सोने-चांदी के बदले भी चावल लेते थे।

आज से कोई 15 हजार से 16 हजार साल पहले हिमालय की उत्तरी और दक्षिणी ढलानों में जंगली धान लहराता था। 'इंडिका' किस्म का धान तापमान में हेर-फेर, यहां तक कि सूखा भी सह लेता था। हिमालय से यह धान उत्तरी और पूर्वी भारत, दक्षिण-पूर्व एशिया के उत्तरी भाग और फिर दक्षिणी चीन में फैल गया। पड़ोसी देश म्यांमार में 46 लाख हेक्टेयर में धान की

खेती की जाती है। यहां के कारेन कबीले के लोग धान में आत्मा मानते हैं और उसे केला कहते हैं।

इंडोनेशिया कोई 36 हजार द्वीपों का देश है। यहां बाली और सुमात्रा के किसान धान-माता को देवी-श्री और धान-नाना को देवी-नीनी कहते हैं। बीज बोने से पहले उनमें से सबसे बढ़िया बालियां चुनकर देवीश्री बनाई जाती हैं। इन्हें सिर पर रखकर नाचते-गाते खेत में या कोठार में सजा देते हैं। इस तरह समस्त एशियाई देशों में देखें तो धान के विविध रूप देखने को मिलेंगे और सब जगह धान की महत्ता अलग-अलग रूपों में मिलेगी।

एक बार फिर लौटकर अगर भारत की बात करें तो अपने देश से तो धान का रिश्ता अभिन्न ही रहा है। यहां चावल को खाया भी जाता है, चावल के अक्षत से ही पूजा होती है, चावल का इस्तेमाल तिलक लगाने में भी करते हैं और धान की बाली का तो शुभ कार्यों में इस्तेमाल होता ही है। धान को इसीलिए भारत और एशियाई देशों में अनाज की बजाय एक संस्कृति और परंपरा का भी नाम विद्वानों ने दिया है। एशियाई देशों में जितना गहरा रिश्ता भारत से मिलता है, धान का उतना ही गहरा रिश्ता एक और मुल्क जापान से भी मिलता है, जिसे जानना इस एक अनाज के कई पहलुओं को सामने लाता है।

जापान में धान भगवान

जापान एक ऐसा देश है, जहां धान भगवान-सा दर्जा पा चुका है। जापान में धान कोई तीन हजार साल पहले पहुंचा था। फिर जल्दी ही यह जापानी जीवन का अभिन्न अंग बन गया। यहां बचपन से ही धान को आदर देना सिखाया जाता है, मानो धान न हो, घर का कोई बड़ा-बूढ़ा हो। आज भी हर महीने के पहले, पंद्रहवें और अट्ठाइसवें दिन और सभी त्यौहारों पर जापानी घरों में लाल चावल बनाते हैं। जापान के एक प्रधानमंत्री हुए माकोसोने। सान के नाम का मतलब है—श्री मध्य जड़। इनसे पहले के प्रधानमंत्री थे मुकुदा यानी श्री भरे खेत। यहां खेत का मतलब धान के खेत से ही है। आज दुनिया में होंडा कंपनी का जलवा है। होंडा के माने हैं धान का मुख्य खेत और टोयोटा का मतलब है भरपूर फसल वाला धान का खेत। जापान के एक प्रमुख हवाई अड्डे का नाम है नारिटा यानी फूलता फलता धान का खेत। धान की प्रधानता की जापान में बड़ी पुरानी परंपरा है। यहां देहातों में धान-देवता इनारी का मंदिर जरूर मिलेगा। जापान के जनजीवन में धान का सीधा सरोकार दिखता है। बड़े से बड़े उद्योगपतियों से लेकर आम जनमानस और बड़े राजनेताओं तक के सीधे संपर्क व सरोकार धान से दिखते हैं। यानी धान में जहां भारत की जान बसती है, वहीं जापान में धान भगवान सरीखा रूप ले लेता है।

क्या प्रधानमंत्री मोदी मध्य प्रदेश की एक सभा में मेरा लिखा भाषण पढ़ सकते हैं?

भाजपा की सरकार ने उच्च शिक्षा पर उच्चतम पैसे बचाए हैं। हमारा युवा खुद ही प्रोफेसर है। वो तो बड़े-बड़े को पढ़ा देता है जी, उसे कौन पढ़ाएगा। मध्य प्रदेश का पौने छह लाख युवा कॉलेजों में बिना प्राध्यापक, सहायक प्राध्यापक के ही पढ़ रहा है। हमारा युवा देश मांगता है, कॉलेज और कॉलेज में टीचर नहीं मांगता है।

■ रवीश कुमार



भाइयों और बहनों,

आज मैंने भाषण का तरीका बदल दिया है। मैंने अलग-अलग फॉर्मेट में भाषण दिए हैं लेकिन आज मैं वो करने जा रहा हूँ जो कांग्रेस के नेता पिछले सत्तर साल में नहीं कर सके। मैंने रटा-रटाया भाषण छोड़ कर कुछ नया करने का फैसला किया है।

मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि यह भाषण रवीश कुमार ने लिखा है, लेकिन दोस्तों, भाषण कोई भी लिखे, अगर वह राष्ट्रहित में है। पर मैंने भी कह दिया कि मैं पढ़ूँगा वही जो सरकारी दस्तावेज़ पर आधारित होता है।

रवीश कुमार मान गए और उन्होंने मध्य प्रदेश के उच्च शिक्षा विभाग की वेबसाइट से 2015-16 की रिपोर्ट निकाली। 2016-17 और 2017-18 की रिपोर्ट ही नहीं है, वेबसाइट पर।

मैं तो कहता हूँ कि रिपोर्ट होगी मगर सबको खोजना नहीं आता है। ये जो स्पीच राइटर हैं आप तो जानते हैं न इनको। अरे, दो-दो साल की रपट वेबसाइट पर नहीं है तो क्या हुआ। जो है उसी को पढ़ेंगे।

हमें पूरा भरोसा है हम किसी भी साल नौजवानों को पीछे रखने में पीछे नहीं हटे हैं। मैंने भी कहा कि मध्य प्रदेश में भाजपा सरकार

के 15 साल काम ही काम के साल रहे हैं, पत्रकार भाई तुम 2015-16 की रिपोर्ट से ही भाषण बनाओ। मैं पढ़ दूँगा। डेटा नया ऑयल है। तो जो सरकारी डेटा है उससे हमें तेल निकालना आता है। मित्रों,

मेरे मध्य प्रदेश में 437 शासकीय महाविद्यालय हैं। गर्वनमेंट कॉलेज। 437 कॉलेज भाइयों-बहनों। ये कॉलेज आपके पैसे से चलते हैं। जबकि 800 से अधिक कॉलेज ऐसे हैं जिसके लिए आप टैक्स नहीं देते मगर मोटी फीस देकर चला रहे हैं। प्राइवेट से लेकर पब्लिक सेक्टर सब आप ही चला रहे हैं।

1300 से ज़्यादा कॉलेज हैं। कॉलेज की कोई कमी हमने मध्य प्रदेश की जनता को नहीं होने दी है। 2015-16 की रिपोर्ट है। लॉ कॉलेज के लिए 28 प्रिंसिपल के पद स्वीकृत थे। 28 के 28 खाली थे भाइयों-बहनों। प्रिंसिपल की कोई ज़रूरत ही नहीं है। बेवजह नियम बनाते रहते हैं। हम मिनिमम गर्वनमेंट मैक्सिमम गर्वनेंस की बात करते हैं। ये कॉलेज बिना प्रिंसिपल के अपने आप चलते रहे हैं।

हमने कॉलेज ही नहीं, क्लास रूम को भी खाली रखा है। नौजवान क्लास में आए,

बात-विचार करें, आपस में चर्चा करें, कैंपस में तोप देखें, तिरंगा देखें, अब टीचर होंगे तो ये सब कहां कर पाएंगे। राष्ट्रवाद का निर्माण कहां हो जाएगा।

इसलिए 2015-16 की सालाना रिपोर्ट कहती है, और ये मैं नहीं कह रहा हूं। उच्च शिक्षा विभाग की रिपोर्ट कहती है,

704 प्राध्यापक होने चाहिए थे, हमने 474 रखे ही नहीं। 7412 असिस्टेंट प्रोफेसर होने चाहिए, शिवराज जी ने कहा कि 3025 असिस्टेंट प्रोफेसर रखने की कोई ज़रूरत नहीं है।

हमारा युवा खुद ही प्रोफेसर है। वो तो बड़े-बड़े को पढ़ा देता है जी, उसे कौन पढ़ाएगा। हर युवा मास्टर है, उसका मास्टर कोई नहीं। यह हमारा नारा है। नारा मैं खुद लिख रहा हूं, रवीश कुमार नहीं। पत्रकार लोग डेटा-वेटा करते रहते हैं, चुनाव उससे नहीं होता लेकिन हमने कहा कि चलो भाई आज शिक्षा को मुद्दा बना ही देते हैं।

लाइब्रेरी की कोई ज़रूरत नहीं है। आप तो स्मार्ट फोन से सब पढ़ लेते हो। 264 महाविद्यालयों और यूनिवर्सिटी में वाई फाई की सुविधा दे दी गई है। आपको मिल रही है कि नहीं, मिल रही है। हाथ उठा कर बोलिए, आपके कॉलेज में वाई फाई है या नहीं।

391 लाइब्रेरियन के पद मंजूर हैं लेकिन 253 पद खाली रख छोड़े थे हमने। एक कॉलेज में प्रिंसिपल से लेकर प्राध्यापक के बहुत पद होते हैं। इस तरह से दोस्तों 9,377 पद पर लोग होने चाहिए थे, 4,374 पद खाली थे दोस्तों, 4,374।

क्या-क्या नहीं खाली था! प्रिंसिपल, प्राध्यापक, असिस्टेंट प्रोफेसर, क्रीडा अधिकारी, रजिस्ट्रार हमने सब खाली रख छोड़े हैं। ऐसा नहीं है कि हमने भर्ती न करने की कसम खा ली हो। हम विज्ञापन निकालते रहते हैं।

2015-16 में 2371 पदों की बहाली निकाली थी। अब ये पता नहीं कि बहाली हुई या नहीं, काश 2016-17 की रपट भी वेबसाइट पर मिल जाती।

मध्य प्रदेश का पौने छह लाख युवा कॉलेजों में बिना प्राध्यापक, सहायक प्राध्यापक के ही पढ़ रहा है। हमारे युवाओं ने दुनिया को दिखा दिया है। हमारा युवा देश मांगता है, कॉलेज और कॉलेज में टीचर नहीं मांगता है। वो देश के लिए खुद चार घंटा अधिक पढ़ लेगा।

और ट्यूशन के लिए मास्टर कहां कम हैं। तभी तो हम स्कूटी और मोपेड देने वाले हैं ताकि बच्चे कॉलेज कम

जाएं, सीधे ट्यूशन जाएं। परमानेंट टीचर का झंझट ही छोड़ दिया। इस साल तो शिवराज सिंह चौहान ने अतिथि विद्वानों का मानदेय न्यूनतम 30,000 रुपये कर दिया है वर्ना कई साल तक तो वे न्यूनतम मजदूरी से भी कम पर पढ़ा रहे थे। इसे त्याग कहते हैं।

15 साल हमने यूं ही राज नहीं किए हैं। तभी तो चुनाव के कारण हमने जुलाई में न्यूनतम 30,000 रुपये कर दिया। दिवाली आई तो हमने कहा कि एक महीने की सैलरी दे दो ताकि लगे कि सैलरी मिल सकती है। पांच महीने में एक महीने की सैलरी दे दो, नौजवान काम करने के लिए तैयार है।

हम तो वो भी नहीं देते मगर राज्य मानवाधिकार आयोग ने नोटिस दे दिया कि इन्हें सैलरी दी जाए। तभी कहता हूं कि विकास के काम में ये मानवाधिकार आयोग वाले बहुत रोड़ा अटकाते हैं।

कोई नहीं, हमने भी चार महीने की सैलरी नहीं दी। एक ही महीने की दी। दिवाली का खर्चा ही क्या है। पटाखे तो बैन हो गए हैं। दीया तो मिट्टी से बन जाता है। अब देखिए, चार महीने की सैलरी नहीं दी है, तब भी अतिथि विद्वान कॉलेज जा रहे हैं। पढ़ा रहे हैं।

विरोधी कहते हैं कि तिरंगा और तोप का कोई लाभ नहीं। ये सब कैसे हो रहा है, मित्रों, मैं मानता हूं कि राष्ट्रवाद के कारण हो रहा है। राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित नौजवान बिना सैलरी के पढ़ा रहे हैं और बिना टीचर के पढ़ रहे हैं।

ये लिबरल और अर्बन नक्सल कुछ भी कहते रहें, आज देश को शिक्षा की ज़रूरत ही नहीं है। हमने उसकी ज़रूरत ही खत्म कर दी है। हम नए विचारों को लेकर आगे बढ़ रहे हैं। हम अतिथि विद्वानों को छुट्टी भी नहीं देते हैं। छुट्टी लेते हैं तो सैलरी काट लेते हैं।

मित्रों, मैंने एक दिन की भी छुट्टी नहीं ली है। ये अतिथि विद्वान ही असली मोदी हैं। बिना छुट्टी के पढ़ा रहे हैं।

साल में 1 लाख 20,00 लेकर पढ़ाने वाले दुनिया में ऐसे शिक्षक कहीं नहीं मिलेंगे। शहरों में दिक्रत होती है, मैं मानता हूं। इसलिए ज़्यादातर अतिथि विद्वानों को हमने गांवों में लगा रखा है।

2002 में एक कक्षा के 75 रुपये मिलते थे और एक दिन में चार कक्षा के पैसे मिलते थे। आंदोलन हो

गया। हमने कहा बढ़ा दो। चार कक्षा की जगह तीन कक्षा के पैसे दे दिए। उनका कुछ बढ़ गया लेकिन हमारा बहुत नहीं घटा।

मध्य प्रदेश के कॉलेजों में एमए पास, नेट पास, पीएचडी किए नौजवानों ने कई साल देशहित में 13-14 हजार महीने की कमाई पर पढ़ाया है। भाइयो, बहनो, ये देश मोदी नहीं चला रहा है। ये देश इन नौजवानों से चला रहा है। जो अपना भविष्य ख़तरे में डालकर राज्य का भविष्य संवार रहे हैं।

मित्रों, मेरा स्पीच रवीश कुमार ने लिखा है। उन्होंने अतिथि विद्वानों के नेता देवराज से बात कर ली है। देवराज ने इन्हें बता दिया है कि यूजीसी के हिसाब से 30 छात्र पर एक सहायक प्रोफेसर होना चाहिए। तो इस हिसाब से 12,000 सहायक प्रोफेसर होने चाहिए।

सरकारी कॉलेजों में सहायक प्रोफेसर के लिए 7,000 से अधिक पद मंजूर हैं लेकिन 5,000 से अधिक शिक्षक अतिथि विद्वान हैं। हमने न तो किसी को परमानेंट रखा न इन अतिथि विद्वानों को कभी पूरी सैलरी दी।

परमानेंट करता तो डेढ़ लाख महीने की सैलरी देनी पड़ती मगर यही नौजवान 15 साल से मात्र एक लाख की सैलरी में पूरा साल पढ़ा रहे थे। मध्य प्रदेश की जनता यू हीं मामा नहीं कहती हैं। भांजों का काम ही क्या है। मामा मामा करना है। मां भी खुश, मामा भी खुश।

यही नहीं जो जनभागीदारी से कॉलेज चलते हैं, वो भी चालाक हो गए हैं। एक ही शहर का एक कॉलेज एक शिक्षक को 18,000 सैलरी देता था तो दूसरा कॉलेज उसी विषय को 10,000 में पढ़वा रहा था।

भाजपा की सरकार ने उच्च शिक्षा पर उच्चतम पैसे बचाए हैं। आज तक किसी ने इसकी शिकायत की, किसी ने नहीं की। आंदोलन वगैरह होते रहते हैं मगर ये नौजवान जानते हैं कि इनका मामा अगर कोई है तो वो कौन है। भांजा कभी मामा से बगावत करता है क्या। भारतीय परंपरा है। भारतीय परंपरा है कि हम संस्कार को शिक्षा के पहले रखते हैं। पहले राष्ट्रवाद, फिर संस्कार और दोनों से सरकार।

अभी हम इन अतिथि विद्वानों को भी निकालने वाले हैं। अप्रैल में 3,200 की वेकेंसी निकाली थी, 2,600 का रिज़ल्ट निकला है। अभी ज्वॉइनिंग नहीं हुई है। इनके

कॉलेज जाते ही, पुराने अतिथि विद्वान निकाल दिए जाएंगे। नए नौजवान आएंगे और जमकर पढ़ाएंगे।

इस तरह से अगर हम पंद्रह-पंद्रह साल में परमानेंट शिक्षक की भर्ती करें तो शिक्षा का बजट कितना कम हो सकता है। मित्रों, मैं रवीश कुमार की बात से सहमत नहीं हूँ कि नौजवानों की पॉलिटिकल क्वालिटी थर्ड क्लास है।

आज मध्य प्रदेश के नौजवानों ने बिना टीचर के पढ़ कर दुनिया को दिखा दिया है। मध्य प्रदेश के पढ़े लिखे नौजवानों ने दस-दस साल एक लाख रुपये में पूरे साल पढ़ा कर जो दिखाया है, वह बताता है कि इनकी पॉलिटिकल समझ थर्ड क्लास नहीं है। इनके मां बाप ने शिकायत नहीं की। इन्होंने शिकायत नहीं की। अब आप ही पूछो कि रवीश कुमार को क्या प्रॉब्लम है। उन्हें क्यों शिकायत है?

मैं बधाई देता हूँ कि हमने मध्य प्रदेश में उच्च शिक्षा का विकास किया है। मैं तो कहता हूँ कि आ जाए कोई हमसे इस मामले में बहस कर ले। मेरे मध्य प्रदेश के नौजवान किसी से बहस नहीं करते।

वैसे चुनावों में बातें तो बहुत होती हैं मगर शिक्षा पर कोई भी मुझसे बात कर ले। पूछो जो पूछना है, मैं जवाब दूंगा। अरे पूछोगे तब न, जब हम तुमको पूछने के लायक बनाएंगे। भारत माता की जय। भारत माता की जय।

नोट—दोस्तों, चुनाव दर चुनाव मैंने देखा है कि शिक्षा जैसे ज़रूरी विषय पर बात नहीं होती। नेता बात नहीं करते, जनता बात नहीं करती है। तो सोचा कि लिखने की शैली में बदलाव करता हूँ। प्रधानमंत्री के करीब हो जाता हूँ। उनका भाषण लिख देता हूँ।

एक कोशिश करता हूँ कि चुनाव में शिक्षा की बात हो। नौजवान मध्य प्रदेश के कॉलेज, क्लास रूम की तस्वीर खींच कर प्रधानमंत्री और राहुल गांधी को टैग करें। ट्वीट करें। कॉलेज जाने वाले नौजवान बात नहीं करेंगे तो कौन करेगा। क्या वो चाहेंगे कि यह बात साबित हो जाए कि नौजवानों की राजनीतिक समझ थर्ड क्लास है। नहीं न। तो कल से मध्य प्रदेश के नौजवान अपने अपने कॉलेज का हाल तस्वीर के साथ ट्वीट करें। टैग करें। मुझे बताएं।

(यह लेख मूल रूप से

रवीश कुमार के ब्लॉग कस्बा पर प्रकाशित हुआ है।)

होगा कोई ऐसा भी कि ग़ालिब को न जाने

■ धर्मेन्द्र सिंह

ग़ालिब की संवेदनाओं में ताउम्र बेबसी झलकती रहती थी। उन्हें लगता था कि उनकी प्रतिभा को समाज ने कभी वाजिब हक नहीं दिया।

सुकरात के शिष्य एंटीस्थेनीज़ से यह पूछे जाने पर कि मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा सुख क्या है, उन्होंने उत्तर दिया, 'खुशी-खुशी मरना।'

27 दिसंबर 1797 को आगरा में पैदा हुए मिर्जा असदुल्लाह खान ग़ालिब के बारे में यह कहना बड़ा मुश्किल है कि ज़िंदगी के आखिरी दिनों में अपने दौर का सबसे ज़िंदादिल कहे जाने वाले शायर ने भरपूर खुशी से इस दुनिया को अलविदा कहा हो। वे इस नश्वर दुनिया के फलसफे से बखूबी परिचित थे।

'मौत से पहले आदमी ग़म से निजात पाए क्यों', सो ग़म थे कि ग़ालिब को बख़ाने को

तैयार न थे। 1867 के एक खत में उन्होंने लिखा। 'मैं अहाते में सोता हूँ। सुबह-सुबह दो आदमी मुझे हाथों पर उठाते हैं। एक अंधेरी कोठरी है, उसमें डाल देते हैं और दिन भर अंधेरे कोने में पड़ा रहता हूँ। शाम को फिर दो आदमी मुझे उठाते हैं और आंगन में पलंग पर लाकर डाल देते हैं।'

ग़ालिब क्या सोचते रहते होंगे? जीवन के आखिरी क्षणों में कभी व्यर्थता बोध और कभी कुछ न कर पाने का मलाल उन्हें कचोटता होगा। जवानी से लबरेज अपने दिनों में यह खुद ग़ालिब की अपनी दलील थी,

'जब आंख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है,' अब ग़ालिब यह महसूस करते कि 'खूं हो के जिगर आंख से टपका नहीं ऐ मर्ग, रहने दो अभी यां कि अभी काम बहुत है।'



क्या ग़ालिब मर्ग (मौत) से डर गए थे! वो ग़ालिब जो अक्सर तन्हाई में गुनगुनाते कि 'मौत का एक दिन मुअय्यन है, नींद रात भर क्यों नहीं आती।' अधूरी ख्वाहिशों ने ग़ालिब को एहतियात बरतने पर मजबूर कर दिया था।

फिर वज़'-ए-एहतियात से रुकने लगा है दम,
बरसों हुए हैं चाक गरेबां किए हुए

1867 से 1869 के मध्य में मिर्ज़ा ग़ालिब ने रामपुर के नवाब को कई खत लिखे। वह अपना कर्ज चुका कर मरना चाहते थे। 17 नवंबर 1868 को ग़ालिब ने बहुत व्याकुलता से रामपुर के नवाब को लिखा, 'मेरी हालत बद से बदतर हो गई है। आपके दिए हुए 100 रुपये के वजीफे में से मेरे पास बस 54 रुपये बचे हैं, जबकि मुझे अपनी इज्जत को बचाए रखने के लिए करीब 800 रुपयों की जरूरत है।'

ग़ालिब ने अपनी मौत से तीन महीने पहले ये खत लिखा था। वह लिए हुए कर्ज के साथ मरना नहीं चाहते थे। उन जैसे कुलीन के लिए इस हालत में मरना बड़ी बे-ग़ैरती की बात थी।

10 जनवरी 1869 को अपनी मौत से करीब एक महीने पहले अपनी अंधेरी सीलन भरी कोठरी से नवाब को आखिरी बार लिखा, 'हुजूर, परवरदिगार ने मुझे तबाही के पास लाकर खड़ा कर दिया है। मैं बस आपको फिर से याद दिलाने का फर्ज अदा कर रहा हूँ, बाकी हुजूर की मर्जी।'

यह ग़ालिब का आखिरी खत था, जिसके जवाब में नवाब रामपुर ने सिर्फ तयशुदा 100 रुपये का वजीफा भेजा। यह ग़ालिब को 15 फरवरी को मिला। उनकी मौत से ठीक एक घंटा पहले। ग़ालिब आखिरी सफ़र के लिए तैयार थे।

दम-ए-वापसी बर-सर-राह है
अज़ीजो अब अल्लाह ही अल्लाह है

ग़ालिब की 'दम-ए-वापसी' ठीक वैसी थी जो एक साधारण से मनुष्य की होती है। अपनी तमाम गरीबी और माली मुश्किलातों के साथ वह कुलीनता के परिवेश में भले ही जिए। वह उस में रहते-रहते अचानक उसे तोड़कर बाहर निकल आते थे।

मशहूर उर्दू आलोचक हाली, जो ग़ालिब के शागिर्द थे, के मुताबिक ग़ालिब पालकी के बिना घर से नहीं निकलते थे। दिल्ली कॉलेज (अब ज़ाकिर हुसैन कॉलेज) में फारसी के प्रोफेसर पद को ठुकरा चुके थे क्योंकि इस पद के लिए साक्षात्कार लेने वाला अंग्रेज उनकी अगवानी के लिए बाहर नहीं आया था। जो ग़ालिब के मुताबिक एक शिष्टाचार था, जिसका उसे पालन करना

चाहिए था।

ग़ालिब की यह कुलीन शख्सियत उनके दौर ने गढ़ी थी लेकिन ग़ालिब के मानवतावादी नजरिये पर यह कुलीनता कभी हावी नहीं हुई। भाव और परिवेश की इस भिड़ंत ने ही ग़ालिब को एक महान शायर में बदला था। वह पेंशन के लिये अंग्रेजों के चक्कर लगाते। विक्टोरिया रानी के लिए कसीदे लिखकर गवर्नर जनरल को भेंट करते और दोस्तों को खत में लिखते कि 'गवर्नमेंट का भाट था। भटई करता था। खिलअत पाता था।'

ग़ालिब जानते थे कि घर-गृहस्थी चलाने और ऊपरी हैसियत बनाने के लिए 'शह का मुसाहिब' होना जरूरी था। खुद मुगल दरबार का शाही शायर बनना ग़ालिब की हसरत थी और इसी बात पर चिढ़कर अपने हमवक्त शायर जौक़र पर उन्होंने तंज कसा था

'हुआ है शह का मुसाहिब फिरे है इतराता
वरना इस शहर में ग़ालिब की आबरू क्या है'

ग़ालिब का अपने शहर से एक ख़ास रिश्ता था। दिल्ली उनकी धड़कनों में बसती थी। यहां उन्होंने इज्जत भी पाई थी, रुसवाइयां भी। जुआ खेलने के अपने शौक के चलते जब शहर कोतवाल ने उन्हें रंगे हाथों पकड़ा और उन्हें छह महीने की जेल हुई, तो ग़ालिब को बड़ा धक्का पहुंचा।

'रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहां कोई न हो
हम-सुखन कोई न हो और हमजुबां कोई न हो'
वह कई बार विचलित हुए। गुरबत पीछा छोड़ने को राजी न थी और वह दिल्ली को। नतीजा—एक गहरा मलाल,
'गर मुसीबत थी तो गुरबत में उठा लेता, असद
मेरी दिल्ली में ही होनी थी ये ख़्तारी हाय-हाय
बरसात का मौसम आते ही दिल्ली उन्हें कसकर पकड़
लेती।

'सरे आगाज़े मौसम में अंधे हैं हम
कि दिल्ली को छोड़ें, लोहारू को जाएं।

और इसलिए जब उनकी आंखों के सामने दिल्ली बिखरने लगी तो ग़ालिब भी 'तिमसालदार आईने' की तरह टूटने लगे।

1857 की बगावत के बाद अपने एक दोस्त के खत में यह पूछे जाने पर कि दिल्ली के क्या हाल हैं, ग़ालिब ने बड़े उदास लहजे में खत में जवाब लिखा, 'पांच चीजों से दिल्ली, दिल्ली थी। किला, चांदनी चौक, जामा मस्जिद के भीड़भाड़ वाले बाजार, जमुना पुल पर हर हफ्ते की सैर और फूल वालों का सालाना मेला। इनमें से कुछ भी नहीं बचा। फिर दिल्ली कैसे बची रहती। हां, कभी इस नाम का एक शहर हुआ करता था।'

दिल्ली में हाकिम बदल गए थे। नए हाकिम 'अपनी दिल्ली' अपनी तरह से रच रहे थे। पुरानी सड़कें, इमारतें तोड़ी जा रहीं थीं। शहर के साथ गालिब भी टूटे जा रहे थे।

इसी खत में उन्होंने झल्लाकर आगे लिखा, 'आकर देखो, निसार खान छत्ता से नई सड़क निकाल दी गई है। खान चंद गली से भी एक नई सड़क निकली है। बुलाकी बेगम वाली गली को तोड़ा जा रहा है।' यह जितना एक शहर का टूटना था, उतना ही एक शायर का टूटना।

अब मैं हूँ और मातम-ए-यक शहर-ए-आरजू
तोड़ा जो तूने आईना तिमसालदार था'

बगावत के बाद के दिनों में ब्रिटिश दिल्ली पर नियंत्रण कर लेने के बाद दिल्ली को इस तरह बदल देना चाहते थे कि एक ओर उसकी पुराने प्रतीकों को या तो ध्वस्त कर दिया जाय या उनकी सूरत को बदल दिया जाए, गालिब के लिए यह एक सद्मे जैसा था।

दिल्ली और लाहौर दरवाजों के नाम बदल दिए गए। फतेहपुरी मस्जिद को निजी संपत्ति के रूप में बेच दिया गया। कई सारी इमारतों को सिपाहियों की बैरकों में बदल दिया गया। चारों तरफ बदहवासी का माहौल था।

क्रांतिकारियों से ताल्लुक होने के जरा से संदेह पर अंग्रेज किसी को भी पकड़कर फांसी पर लटका देते। 1858 के एक खत में गालिब ने लिखा, 'अफसर अपनी मर्जी से जो चाहे करते हैं। न कोई कायदा है, न कानून।' एक अराजक शहर का तसव्वुर गालिब ने इस तरह बयान किया,

'रोज इस शहर में एक हुकम नया होता है
कुछ समझ में नहीं आता कि क्या होता है'

गालिब की संवेदनाओं में ताउम्र बेबसी झलकती रहती थी। अपने एक खत में उन्होंने लिखा था, 'जिंदगी का एक बड़ा हिस्सा मैंने नाक्राबिल लोगों के क्रसीदे लिखने में जाया कर दिया।' मृत्यु की घनीभूत वेदना ने इस मलाल को और गहन कर दिया था। उन्हें लगता था कि उनकी प्रतिभा को समाज ने कभी वाजिब हक नहीं दिया।

13 फरवरी 1865 के खत में उन्होंने अलाई को लिखा, 'मैंने खुद लिखा, अपने लिखे को खुद ही सराहा। मुझे खुदा ने इतना न दिया, वरना मेरी आरजू थी कि मैं इस तमाम दुनिया की

मेहमान नवाजी करता और अगर इस पूरी दुनिया को कुछ न खिला-पिला पाता, तो कम से कम इस शहर में तो कोई भूखा नंगा न रहता।'

यह गालिब का अपने शहर से इश्क था और यह इश्क कभी तंजकशी के रूप में था और कभी वाहवाही के रूप में। यह जानते हुए कि वह शाह के 'वज़ीफ़ाख़ोर' थे। अपनी रौ में आकर वह यह भी कह सकते थे,

'बादशाही का जहां ये हाल हो गालिब तो फिर
क्यों न दिल्ली में हर एक नाचीज़ नव्वाबी करे'

या फिर दिल्ली का वह रूप जहां रोजी-रोटी और रोजगार दोनों एक बड़े सवाल थे,

हैं अब इस मामूरे में क्रहत-ए-ग़म-ए-उल्फ़त 'असद'
हम ने ये माना कि दिल्ली में रहें ख़ावेंगे क्या

'खावेंगे क्या' ...गालिब शहर में होने के हर पहलू से रूबरू करा रहे थे और फिर आखिर में शहर की अंधेरी सीलनभरी कोठरी में शून्य में निहारते, बुदबुदाते निश्चेष्ट पड़े अपने समय को आंक रहे थे। महाप्राण निराला की तरह :

'लीला का संवरण-समय फूलों का जैसे
फलों फले या झरे अफल, पातों के ऊपर
सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव,
ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर'

हाली ने लिखा, 'गालिब के जनाजे में बड़े सम्मानित लोग आए। सैयद सफ़दर सुल्तान साहब चुपचाप से आगे बढ़े। नवाब जियाउद्दीन साहब से कान में कहा, मिर्जा साहब शिया थे, आपकी इजाज़त हो तो आख़िरी रस्म हम अपनी तरह से कर लें।' नवाब साहब चुप रहे और नवाब असदुल्लाह खान गालिब उर्फ़ मिर्जा नौशा को सुन्नी तरीके से दफ़ना दिया गया।'

ये और बात है कि गालिब जो थे वो सिर्फ़ गालिब थे, जिन्हें यक़ीन था कि दुनिया में 'होना' या 'न होना' वजूद के एहसास की नुमाइंदगी है और जब तक वह है उसे 'आंख से लहू टपका कर' खुद को ज़ाहिर करना चाहिए। गालिब भले खुशी-खुशी न मरे हों, वह जिए जिंदादिली से।

साभार : द वायर

लेखक भारतीय पुलिस सेवा में उत्तर प्रदेश कैडर के अधिकारी हैं।

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowarDisd@gmail.com / वेबसाइट : www.DisdDnetDin

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017